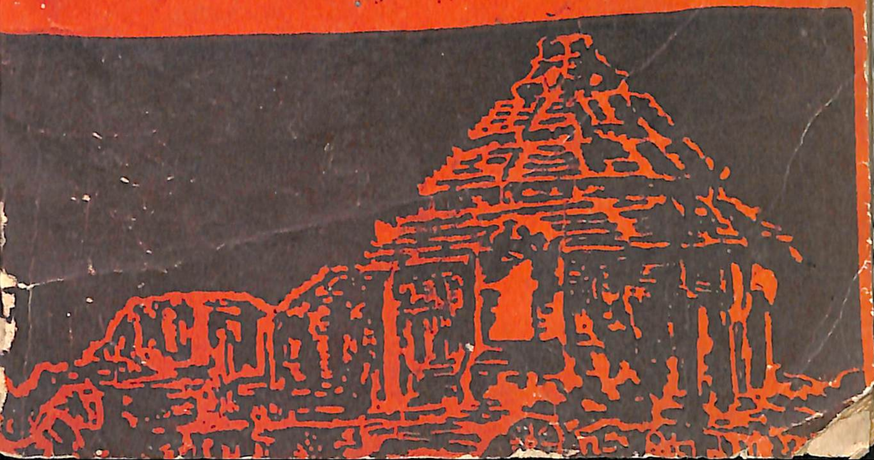


कोणार्क



जगदीश चन्द्र माथुर



* * *

श्री जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्य कृतियों से मैं बहुत पहले से परिचित हूँ। उनके प्रारम्भिक नाटकों में से एक,—'भोर का तारा' रूपाभ में प्रकाशित हुआ था। 'कोणार्क' उनकी अत्यन्त सफल कृति है। हिन्दी में नाट्य कला की ऐसी सर्वांगपूर्ण सृष्टि मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिली। इसमें प्राचीन, नवीन नाट्य कला का अत्यन्त मनोरम सामंजस्य है। विषय-निर्वाचन, कथा-वस्तु, क्रम-विकास, संवाद, ध्वनि, मितव्ययिता आदि सभी दृष्टियों से 'कोणार्क' अद्‌भुत सुथरी संतुलित कला-कृति है। छोटे-छोटे तीन अंकों के भीतर एक विराट युग के जीवन का स्पंदन-कंपन गागर में सागर की तरह छलक उठता है। इसके उपक्रम तथा उपसंहार लेखक के अत्यन्त मौलिक प्रयोग हैं जिनमें नाटक की सीमायें एक रहस्य-विस्तार में खो-सी गयी हैं। उपक्रम में आँखों के सामने एक विस्मृत ऐतिहासिक युग का ध्वंसशेष, कल्पना में समुद्र की तरह आर-पार उद्वेलित होकर साकार हो उठता है, जिसकी तरंगों के व्यथा-द्रवित उत्थान-पतन में करुण, विद्रोह-भरा नाटक का कथा-

स्पादक बन पड़ा है । कलाकार का बदला जीवन-सौन्दर्य को ही चुनौती नहीं देता, अत्याचारी को भी जैसे सूर्यहीन लोक के अतल अंधकार में डाल देता है । सहनशील विशु तथा विद्रोही धर्मपद में जैसे कला के प्राचीन और नवीन युग मूर्तिमान हो उठे हैं । धर्मपद में आधुनिक कलाकार का विद्रोह ही जैसे व्यक्तित्व ग्रहण कर लेता है । विशु और धर्मपद का पिता-पुत्र का नाता और तत्संबंधी करुण-कथा जैसे इतिहास के गर्जन में मानव-हृदय की धड़कन भी घुल-मिल कर नाटक को मार्मिकता प्रदान करती है । आज के राजनीतिक-आर्थिक संघर्ष के जर्जर युग में कोणार्क के द्वारा कला और संस्कृति जैसे अपनी चिरंतन उपेक्षा का विद्रोह पूर्णसंदेश मनुष्य के पास पहुँचा रही हैं ।

श्री माथुर को मैं उनकी इस उत्कृष्ट नाट्य् कृति के लिए हार्दिक बधाई देता हूँ । आशा करता हूँ, भविष्य में वह इसी प्रकार अपनी विशिष्ट देन से हिन्दी-साहित्य के इस अंग को शक्ति तथा गौरव प्रदान करते रहेंगे ।

—श्री सुमित्रानन्दन पंत

सन् १९५० में लिखित

विषय-क्रम

●

संशोधित संस्करण का परिचय

यह नाटक मैंने सन् १९४९–'५० के शीतकाल में लिखा था, यद्यपि इसके कुछ अंश सन् १९४६ ही में लिख डाले थे। प्रथम संस्करण सन् १९५१ में प्रकाशित हुआ। तब से इसके ६ पुनर्मुद्रण हो चुके हैं। भारतवर्ष के कई नगरों में यह खेला जा चुका है; कुछ भाषाओं में अनूदित भी हुआ है। कहीं-कहीं यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाया भी जाता है।

अब १२ वर्ष बाद सन् १९६१ में मैंने इस नाटक में कुछ संशोधन किया है और कई परिवर्तन भी। निस्सन्देह वर्तमान हिन्दी-साहित्य में पूर्व प्रकाशित रचनाओं को इस तरह से परिवर्तित करने की परम्परा नहीं रही है। सुधी समालोचक यदि मेरी इस हरकत पर अचम्भित हों तथा इसकी आलोचना करें तो मैं बुरा न मानूँगा।

वस्तुतः हिन्दी में नाटक छप पहले जाते हैं—उन्हें रंगमंच पर बाद में प्रस्तुत किया जाता है। पाश्चात्य देशों में प्रायः नाटक कही जाने वाली रचनाएं रंगमंच पर उतारी जाने से पूर्व प्रकाशित नहीं की जातीं। लेखक नाटक के रिहर्सल के समय अपनी पांडुलिपि में आवश्यकतानुसार परिवर्तन

करता है और इस समय वह अभिनय संबंधी कठिनाइयों को ध्यान में रख सकता है। 'कोणार्क' के रंगमंच पर अभिनय मैंने स्वयं तो बहुत कम देखे, लेकिन जिन संस्थाओं ने रंगमंच पर इसे प्रस्तुत किया उनमें से कई ने मुझे अपने अनुभव लिख भेजे। एक बुनियादी बात मुझे यह ज्ञात हुई कि मूल संस्करण के तीसरे अंक में शय्या पर लेटे धर्मपद को दिखाया जाना मंच पर अनेक समस्याएँ पैदा कर देता है। चूँकि थोड़ी ही देर बाद उसे संग्राम में पुनः कूद जाना है इसलिए वह विवशता का चित्र मंच पर उपयुक्त प्रभाव नहीं डालता; यद्यपि कथा में वैसा विवरण पूर्णतः स्वीकार्य होगा। दूसरी बात पहले अंक के बारे में कही गयी कि उसमें पूर्वकथा का उद्घाटन यथोचित नाटकीयता से नहीं हो पाया और इसलिए कहीं-कहीं एकरसता आ गयी। तीसरी बात यह थी कि उपक्रम और उपसंहार के शब्द नेपथ्य से गाये जाने पर प्रायः सुने नहीं जा सकते और उनका काव्यत्व दर्शकों तक पहुँच नहीं पाता था।

प्रस्तुत संस्करण में किये गये संशोधन रंगमंच की उल्लिखित कठिनाइयों को ध्यान में रखकर किये गये हैं। तृतीय अंक का अंतिम दृश्य जिसमें मूर्ति धराशायी होती है, रंगमंच की दृष्टि से अधिक स्पष्ट कर दिया गया है, यद्यपि निर्देशकों को अब भी इस दृश्य के दिखाने में विशेष सावधानी बर्तनी होगी।

एक दूसरे प्रकार के परिवर्तन की प्रेरणा मुझे मिली प्रसिद्ध पुरातत्व-वेत्ता श्री टी० एन० रामचन्द्रन् के एक लेख से, जो सन् '५१ में मद्रास संगीत एकादमी के जर्नल में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में उन्होंने कोणार्क-मंदिर से प्राप्त एक मूर्ति का उल्लेख किया है जिसके नीचे नाट्याचार्य 'सौम्य श्रीदत्त' का नाम लिखा हुआ है। उनके अनुसार सौम्य श्रीदत्त कोणार्क-मंदिर के नाट्याचार्य रहे होंगे; मूर्ति की मुद्रा एवं अन्य विशेषताओं से यह सिद्ध होता है। इस मूर्ति का एक चित्र भी उन्होंने मेरे पास भेजा। मूर्ति के गले में एक हार है, जिसके बीच में एक बड़ा-सा चक्र है। हाथों में मंजीर, कानों में मकरकुंडल, किन्तु कलाई में वीर-शृंखला का

अभाव। यदि इस मूर्ति के विषय में मुझे पहले से जानकारी होती तो संभवतः नाटक के कथानक में एक और तत्व का आरोप होता। फिर भी मैं सौम्य श्रीदत्त को अपने नाटक में किसी-न-किसी रूप में प्रस्तुत करने की लालसा को दबा न सका। मूल संस्करण में मुकुन्द नाम का एक कल्पित पात्र स्थपति विशु का मित्र दिखाया गया है। इस संशोधित संस्करण में उस कल्पित पात्र के स्थान पर सौम्य श्रीदत्त को मैंने दिखा दिया है। सौम्य श्रीदत्त के प्रवेश से निस्सन्देह नाटक का चरित्र-चित्रण अधिक सजीव और विविध हो गया है,—कम-से-कम ऐसा मेरा विचार है।

पिछले कुछ वर्षों में मुझे मध्ययुगीन भाषा-नाटकों को पढ़ने का मौका मिला है। उन नाटकों में सूत्रधार तथा उसके संगियों का एक विशेष स्थान होता है। इसलिए तथा नेपथ्य के स्वरों की अव्यावहारिकता के कारण, मैंने यह तय किया कि सूत्रधार और उसके साथ दो वाचिकाओं को उपक्रम और उपसंहार के पात्रों का रूप दिया जाए। साथ ही मैंने अंक के बीच विष्कंभकों के समान उपकथनों का समावेश किया है। इस तरह से उपक्रम, उपसंहार और उपकथन—ये तीनों नाटक के एक विशेष अंग बनाये गये हैं और सूत्रधार और दो वाचिकाएँ एक ऐसे समुदाय के रूप में हमारे सामने आते हैं जो नाटक के स्थूल रूप तथा आत्मा दोनों पर तीव्र प्रकाश डालते हैं। इस समुदाय को मैंने संज्ञा दी है 'वृन्दवार्तिक' की। 'वार्तिक' शब्द लोक-नाटकों में आज भी व्यवहृत होता है। 'वृन्दवार्तिक' की तुलना यूनान के 'कोरस' से भी की जा सकती है। बीसवीं सदी में प्रसिद्ध अमेरिकन नाटककार यूजीन ओ' नील ने इस तरह के कोरसों का प्रयोग किया। कोणार्क का 'वृन्दवार्तिक' कथा की कड़ियाँ प्रस्तुत करता है किन्तु साथ ही दर्शकों का प्रतीक भी है, न सिर्फ उन दर्शकों का जो रंगशाला में बैठे नाटक का अभिनय देखते हैं बल्कि उनका भी, जो रंगस्थली में होने वाले, नियति के आश्चर्यजनक खेलों का अवलोकन करते हैं; संशय और उत्सुकता जिन्हें रह-रह कर पीड़ित करते हैं, उल्लास और जिज्ञासा जिनके प्राण हैं और कर्मोदधि की उत्ताल तरंगों के बीच जो विश्वास तथा सत्य

की चट्टानों को देख पाते हैं ।

इन सब संशोधनों के बावजूद मैं जानता हूँ कि 'कोणार्क' का सफल अभिनय करना टेढ़ी खीर है । इसलिए जो लोग इसे रंगमंच पर प्रस्तुत करना चाहें उन्हें मैं पहले से ही सचेत कर देना आवश्यक समझता हूँ । यों मैंने परिशिष्ट में अभिनय के लिए कुछ संकेत दिये हैं; फिर भी एमेचर (शौकीनी) मंडलियों के लिए इस नाटक का सफल अभिनय करना कठिन है ।

यों तो इस नाटक के विषय में मुझे अनेक रोचक अनुभव हुए, किन्तु सबसे दिलचस्प अनुभव हुआ दिल्ली के अंग्रेजी समाचार-पत्रों में इस नाटक के अभिनय की समालोचना पढ़कर। उनमें से एक समालोचक महोदय (अथवा महोदया !) ने लिखा कि इस नाटक की भाषा इतनी दुरूह है कि इस नाटक का बहिष्कार होना चाहिए, क्योंकि लेखक ने यह नाटक संस्कृतमयी हिन्दी का प्रचार करने के लिए लिखा है !!

यदि कोई मंडली दिल्ली में 'कोणार्क' का अभिनय करना चाहे तो मैं उसको सलाह दूँगा कि कोई और नाटक चुने । वास्तव में दिल्ली को हिन्दी-साहित्य तथा नाटकों का आदी होने में अभी थोड़ा समय लगेगा । फिर भी मैं विशेष अनुगृहीत हूँ, उन सभी अभिनेताओं, निर्देशकों तथा मंडलियों का, जिन्होंने 'कोणार्क' को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की चेष्टा की तथा हिन्दी के उन सुधी समालोचकों और विद्वानों का, जिन्होंने मेरा उत्साह बढ़ाया । कहाँ तक यह नाटक साहित्य और रंगमंच के लिए स्थायी निधि है—यह तो भविष्य ही बता सकेगा ।

नई दिल्ली
मई, १९६१

—जगदीशचन्द्र माथुर

परिचय

(मूल संस्करण)

ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल, भव्य और कलापूर्ण मन्दिरों का निर्माण हुआ जो आज भी भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी और कोणार्क में तत्कालीन कला के साक्षी-रूप खड़े हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ मन्दिर, सूर्य देवता का देवालय, कोणार्क में स्थित है। कोणार्क के देवालय के विषय में कतिपय ऐतिहासिक तथ्य विचारणीय हैं। एक तो यह कि मध्यकालीन उड़ीसा के मन्दिरों की परम्परा में यह अन्तिम भवन है। इसके बाद न जाने कैसे और क्यों उड़ीसा में उस कोटि और शैली के मन्दिरों का बनना ही बन्द हो गया और मानो शिल्पियों के कुल ही तिरोहित हो गये। दूसरे, उस परम्परा के मन्दिरों में स्थापत्य, कल्पना और कला की विविधता में यह मन्दिर पराकाष्ठा का द्योतक है, मानो वह शैली कोणार्क के निर्माण में अपनी चरमावस्था को पहुँची। तीसरे, जहाँ अन्य मन्दिर पुरी और भुवनेश्वर जैसे नगरों में बनाये गये, कोणार्क के लिए ऐसा स्थान चुना गया, जिसके आस-पास दूर तक आबादी नहीं थी। पुरी से १६ मील दूर समुद्र-तट पर यह मन्दिर स्थित

है। चौथे, इस मन्दिर के उपपीठ और दीवारों पर अंकित युगल मूर्तियाँ आधुनिक विचार से अत्यन्त अश्लील हैं और उनका उद्देश्य समझ में नहीं आता। पाँचवीं और अत्यन्त रहस्यपूर्ण बात यह है कि मध्यकालीन उड़ीसा का अन्य कोई मन्दिर इस खंडित और भग्नावस्था में नहीं है, यद्यपि यही सब के बाद में बना। मन्दिर का मुख्य अंश (विमान) टूटा पड़ा है, यद्यपि और कुछ विद्वानों का तो यह भी मत है कि मन्दिर कभी व्यवहार में लाया ही नहीं गया। मन्दिर का मुख्य भाग इस समय पत्थरों का ढेर है। उसका नट-मन्दिर भी धराशायी है। विशाल प्रांगण में ध्वस्त मूर्तियाँ और पाषाण-खंड पड़े हैं। केवल बाकी है विमान से सटा हुआ जगमोहन यानी मंडप जो एक विस्तीर्ण मेधि पर दीपक की अकेली लौ की भाँति खड़ा है।

मन्दिर क्यों टूटा—इस विषय में उड़ीसा में एक किम्वदन्ती प्रचलित है, जिसे अंशतः ही मैंने अपने नाटक का आधार बनाया है। इतिहास का सहारा भी मैंने अल्प मात्रा में ही लिया है; फिर भी इस नाटक को पूर्णतया अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता। गंगवंशीय महाप्रतापी राजा नरसिंह-देव का उड़ीसा में राज्यकाल ईस्वी सन् १२३८ से १२६४ तक माना जाता है और कुछ जागीरों के लेख-पत्रों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि नरसिंह-देव ने ही कोणार्क का निर्माण कराया। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि नरसिंहदेव ने बंग-प्रदेश में मुसलमान सूबेदारों को पराजित किया और गौड़ तक अपनी सेना को ले जाकर अनेक वर्षों तक बंग-प्रदेश में वे यवनों से लड़ते रहे। नरसिंहदेव के दरबार के प्रसिद्ध कवि विश्वनाथ ('साहित्य दर्पण' के रचयिता) ने अपनी अलंकार-शास्त्र की पुस्तक 'एकावली' में नरसिंहदेव को 'यवनावनिवल्लभ' कह कर सम्बोधित किया है। नरसिंह-देव के मंत्रियों में प्रमुख थे पूर्वीय चालुक्य-वंश के राजराज। यह बात श्रीकूर्मम् के एक लेख से प्रमाणित होती है।

मैं अपने उड़िया मित्रों से एक धृष्टता के लिए क्षमा-याचना करता हूँ। जिस लोकप्रिय किम्वदन्ती के आधार पर उड़िया में श्री गोपबन्धुदास के खंड-काव्य 'धर्मपद', कार्तिक घोष के नाटक और अन्य रचनाओं का

प्रणयन हुआ, मैंने उसका रूप इस नाटक में इतना बदल दिया है कि शायद वे उसे पहचान भी न पायें और रुष्ट भी हों कि क्यों मैंने एक ललित और करुण रस से पगी कहानी को इस रौद्र रूप में प्रदर्शित किया है। मैं अपना अपराध सहज ही स्वीकार करता हूँ। मुझे उस किम्वदन्ती के करुण लालित्य ने आकृष्ट अवश्य किया किन्तु जिस विशाल और पुष्ट कल्पना का कोणार्क-मन्दिर परिचायक है और जिस संघर्ष-प्रधान युग में उसका निर्माण हुआ—उसके मुकाबिले में मुझे उड़िया किम्वदन्ती के भावुक और विवश नायक-नायिका क्षीण जँचे। प्रणय की अठखेलियों और भाग्य के थपेड़ों के आधार पर कोणार्क के खँडहरों का सहारा ले एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने से मुझे संतोष नहीं हुआ। मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है 'कोणार्क' के खंडन के क्षण में फूट निकला हो। चिरन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है उस पौरुष को मैंने वाणी देने की धष्टता की है। किन्तु जब रूमानी कहानियों में बादल छूने वाली कल्पना पर आप प्रतिबन्ध नहीं लगाते तो कलाकार के मानस में कुण्डली मार कर सोये, पौरुष-नाग की अनाहत फूत्कार की जो कल्पना मैंने की है उसे समकालीन प्रगतिवाद की प्रतिध्वनि कह कर ही न दुत्कार दें। यह सही है कि व्यक्तिगत वैषम्य के साथ सामाजिक समस्याओं का गठबन्धन मैंने किया है। किन्तु इन दोनों के पूरे यूनानी दुःखान्त नाटक की-सी भग्न रागिनी की प्रेरणा मुझे कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन में मिली है और यह नाटक उसी का प्रतीक है।

* * *

परिशिष्ट में हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की गति-विधि और भविष्य पर जो विचार मैंने प्रकट किये हैं उनका 'कोणार्क' के वस्तु-विषय और रूप-रेखा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि 'कोणार्क' पहले लिखा गया और यह निबन्ध बाद में। किन्तु दोनों प्रयास एक ही यज्ञ के लिए आहुतिस्वरूप होने के कारण असंगत न माने जायेंगे। पटना कालेज

की साहित्य-परिषद् में छात्रों, अध्यापकों और अन्य विद्वानों के सामने जब मैंने इस निबन्ध को पढ़ा तो मुझे लगा कि शायद मेरे शब्दों ने श्रोताओं को इस विषय पर गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए मजबूर किया। उसी उद्देश्य से यहाँ भी यह निबन्ध दे रहा हूँ। आशा है विद्वान् पाठक मेरी निश्चयात्मक उक्तियों के बावजूद इसे पढ़ने का कष्ट उठायेंगे। मैंने जो कुछ लिखा है उस पर रंगमंच और नाट्य-लेखन के तजुर्बे की छाप है, शास्त्रीय-अध्ययन की नहीं। लेकिन शास्त्र के दामन पर तजुर्बे के दाग न पड़ें तो वह दामन नहीं, पताका बन कर रह जायेगा। हमें तो दामन की जरूरत है, पताका की नहीं।

—जगदीशचन्द्र माथुर

पटना, १९५०

शिल्पीप्रवर

उपेन्द्र महारथी को

"..........

कला की जोत ! अटल विश्वास
जगाये, खँडहर सोता है।"

कोणार्क

पात्र :

सूत्रधार
पहली वाचिका
दूसरी वाचिका } उपक्रम, उपसंहार और उपकथनों के वदवार्तिक

विशु : उत्कल राज्य का प्रधान शिल्पी और कोणार्क का निर्माता

धर्मपद : एक प्रतिभाशाली युवक शिल्पी

नरसिंहदेव : उत्कल नरेश

राजराज चालुक्य : उत्कल-नरेश का महामात्य

सौम्य श्रीदत्त : विशु का मित्र और मंदिर का नाट्याचार्य

राजीव : मुख्य पाषाण-कोर्त्तक

शैवालिक : चालुक्य का दूत

महेन्द्रवर्मन : नरसिंहदेव का रहस्याधिकारी

भास्कर
गजाधर } : अन्य शिल्पी

प्रतिहारीगण

सैनिक

काल :

ईसवी सन् १२६० के लगभग

स्थान :

प्रथम अंक : कोणार्क-मंदिर में विशु का कक्ष ।

द्वितीय अंक : वही

तृतीय अंक : मंदिर के गर्भगृह से सटा अंतराल ।

[अभिनय और निर्देशन के संकेतों के लिए देखिए परिशिष्ट; और रंगमंच और वेश-भूषा के लिए पुस्तक में दिये गये चित्र ।]

उपक्रम

[झीने अंधकार में कोणार्क के खँडहर की हल्की झलक दीख पड़ती है। सम्मिलित वाद्यों का स्वर। उस संगीत की अंतिम ध्वनियाँ ऐसी हैं जैसे सागर की लहरों का अनवरत, न थकने वाला, सृष्टि की व्यंग्यमयी वेदना से परिपूर्ण रुदन।

हठात् संगीत रुक जाता है। क्षण भर के लिए पूर्ण मौन और निविड़ अंधकार! फिर अंधकार को चीरती हुई प्रकाश की मंद रेखा तीन आकृतियों को ज्योतित कर देती है,—मंच के एक सिरे पर अग्रभाग में खड़े हुए सूत्रधार और दो वाचिकाएँ (अथवा वाचक!) सूत्रधार रंगीन पगड़ी, लंबी चपकन और अंगवस्त्र पहने हैं; वाचिकाएँ लहँगे और ओढ़नियाँ (यदि वाचक हैं तो पगड़ी-धोती और छोटी चपकन)।

निश्शब्द वातावरण को भेदते हुए एक-एक करके तीनों के स्वर सुन पड़ते हैं, मानो शताब्दियों के सोपानों को पार करने वाले, चिर-जागृत सागर की लहरें कथा सुनाती हों।

बोलने वाला व्यक्ति मंच के बीच में आ कर बोलता है। प्रकाश उसके चेहरे पर प्रखरता से पड़ता है। इस तरह एक-एक करके, कथा कहने के बाद, तीनों, मंच के दूसरे सिरे पर खड़े होते जाते हैं।

कथा लय-तालयुक्त गीतों के रूप में नहीं, बल्कि अत्यंत स्पष्ट और मर्मस्पर्शी वाचक शैली में कही जाती है। किसी तरह का वाद्य नहीं बजता, किसी तरह का सस्वर गीत नहीं गाया जाता। प्रत्येक शब्द साफ़-साफ़

सुन पड़ता है। पहला स्वर स्पष्ट किंतु महीन है, दूसरा उससे गहरा और तीसरा गुरुतम।]

पहली वाचिका

(नन्हीं लहर)

दूर वह खँडहर सोता है,
पूरबी सागर के तट पर
सुनातीं अगणित अथक लहर
लोरियाँ जिसको निशि-वासर
रेत की सेज सँजोए क्लांत
मौन वह खँडहर सोता है।

दूसरी वाचिका

(आकुल तरंग)

साँझ का सोने-सा बादल;
डूबते सूरज की बेकल
साँस-सा चंचल, पर निश्चल,
अधूरे सपने-सा अभिराम
कौन वह खँडहर सोता है ?

[थोड़ा विराम। मंद और करुण वाद्य-स्वर। और फिर—]

सूत्रधार

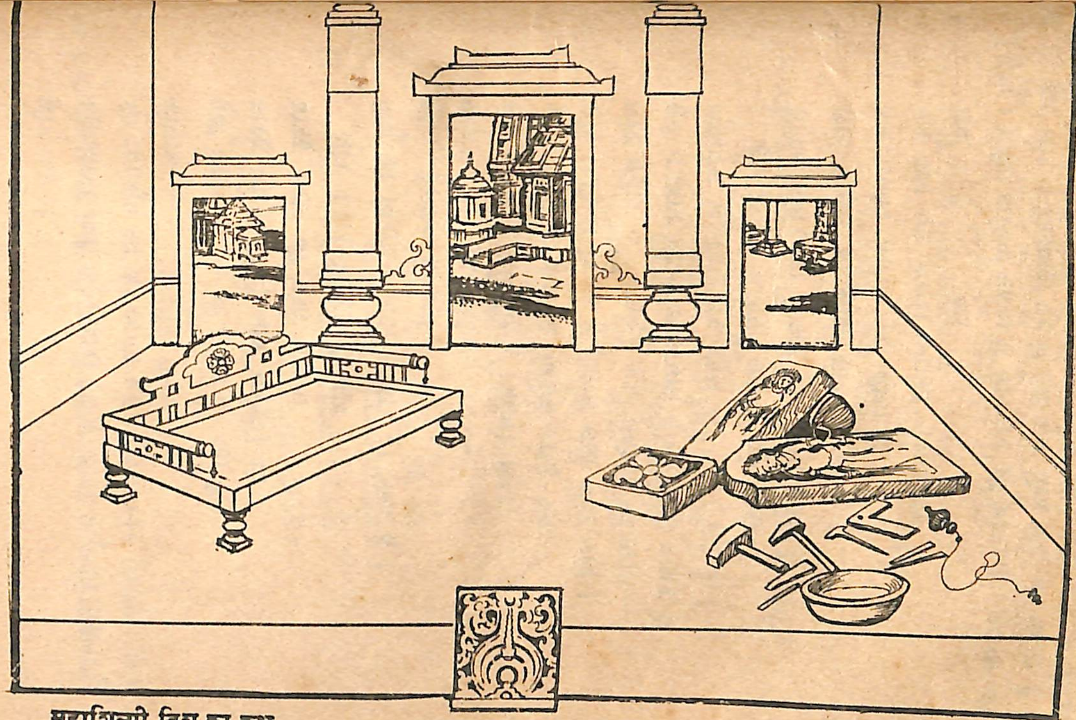
(गंभीर, मंथर हिल्लोल)

लेकिन एक दिन . . .
बहुत दिन हुए. . . वह सपना पूरा हुआ था।
सात सौ वर्ष पहले की बात।. . .

उड़ीसा प्रदेश में परम पराक्रमी महाराज नरसिंह देव का राज्य है और उनका मुख्य स्थपति है महाशिल्पी विशु, जिसने एक के बाद एक चार अद्‌भुत मंदिरों का भुवनेश्वर में निर्माण किया।. . . फिर भी राजा की कामना और शिल्पी की साधना पूरी न हुई।

और अब !
महाशिल्पी विशु की निखरी हुई कला का अभूतपूर्व चमत्कार
भगवान सूर्य का जगमगाता हुआ पुण्यधाम—
कोणार्क—
पूर्वी सागर के तट पर उदित हो रहा है।
बारह सौ शिल्पियों और मजदूरों की
बारह बरस की लंबी साधना
और कठोर मेहनत के बाद
विशु की विराट कल्पना साकार हो चली है।
हाँ... विराट् कल्पना !
पाषाण का एक विशाल रथ—
सैकड़ों गज लंबी-चौड़ी है जिसकी पिष्ठ,
दुर्ग-प्राचीर से वृहद हैं जिसके बारह चक्र,
और गिरि से विपुल हैं जिसके सात भव्य घोड़े।
और मंदिर के भीतर है एक अनोखा चमत्कार—
सूर्य भगवान की जाज्वल्यमान मूर्ति, चुंबक पत्थर के
आकर्षण से, निराधार, शून्य में, लटकी हुई है !
...हाँ, विराट् कल्पना साकार हो चली !
लेकिन मंदिर का शिखर पूरा होना बाकी है।
सारे उत्कल की आँखें कोणार्क पर हैं।
कब उसका शिखर पूरा होगा ?
कब उस पर केसरी पताका फहरायेगी ?
कब ?... कब ?

[मौन। संगीत क्षणिक उठान के बाद बंद हो जाता है। प्रकाश की रेखा सूत्रधार और वाचिकाओं पर से हट कर बीच मंच पर पड़ती है। सूत्रधार और वाचिकाओं का प्रस्थान। लँडहर की झलक लुप्त हो जाती है और उसके स्थान पर—]



महाशिल्पी विशु का कक्ष (प्रथम और द्वितीय अंक

प्रथम अंक

[एक कक्ष का भीतरी भाग। मंदिर की विशाल चहारदीवारी के भीतर मुख्य मंदिर से लगभग पचास गज दक्षिण-पूर्व की ओर एक भोग-मंदिर है। यह कमरा उसी में स्थित है और मंदिर के निर्माण के दिनों में महाशिल्पी विशु का निवास-स्थान है। सामने तीन द्वार हैं; जिनमें से बीच वाले को छोड़ कर बाकी दोनों खिड़की जान पड़ती हैं। खिड़की के बराबर स्तंभ हैं। खिड़कियों और सामने वाले द्वार में से मुख्य मंदिर और जगमोहन की झलक दिखायी पड़ती है—पूरी झलक नहीं, सिर्फ मेधि से ऊपर और छप्र से नीचे का अंश, जिस पर अंकित कुछ सुंदर मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। मंदिर की यह झलक जितनी सजावटपूर्ण है, उसकी अपेक्षाकृत महाशिल्पी का निवास-स्थान, यह कमरा अत्यंत सादा और अलंकार-विहीन है। इधर-उधर कुछ आधी उत्कीर्ण मूर्तियाँ पड़ी हैं। कुछ पाषाण-खंड रखे हैं, जिन पर की गयी खुदाई नजर पड़ रही है। कुछ छैनियाँ और अन्य औजार भी पड़े हैं। बायीं खिड़की के पास एक लंबी चौकी रखी है जिसके सिरहाने की तरफ लकड़ी की ऊँची पीठ है, जैसी कि अकसर प्राचीन सिंहासनों में हुआ करती थी। चौकी पर एक सादा कालीन बिछा है। चौकी पर भारी चिंतित अवस्था में बैठे हैं महाशिल्पी विशु। उनके हाथ चौकी की पीठ पर हैं और हाथों पर ठुड्डी है। हमें उनका पूरा मुख नहीं दीख पड़ता, क्योंकि उनकी दृष्टि बीच वाले द्वार में

होती हुई मुख्य मंदिर पर पड़ी हुई है। कमरे में आने का एक द्वार दाहिनी तरफ भी है और इस दृश्य में अधिकतर अभिनेता इसी द्वार से आते-जाते हैं। इस समय इस द्वार के निकट कोणार्क के प्रधान पाषाण-कोर्त्तक राजीव खड़े हैं। ऐसा मालूम होता है कि अभी बाहर से आये हैं और उन्होंने कुछ कहना समाप्त किया है।

बातचीत के बीच में कभी-कभी मंदिर की तरफ से पत्थर पर खुदाई की आवाज आती है, जिससे मालूम होता है कि काम जारी है।]

विशु : कब ? आखिर कब हम अम्ल* के ऊपर त्रिपटधर को स्थापित कर पायेंगे ? आज दस रोज हो गये, केवल इसी के कारण मूर्ति का प्रतिष्ठापन नहीं हो रहा है। (राजीव की ओर मुँह करके) राजीव, तुम कहते हो कि तुमने कलश के अधोअंश को हल्का कर दिया ?

राजीव : हाँ, फिर भी कलश ठहर नहीं पाता। मैंने अम्ल के हरेक अनुपात को फिर से नापा। कहीं कमी नहीं।

विशु : छप्र से ऊपर वाली भूमि के जोड़ तो ठीक हैं न ?

राजीव : वे सब जोड़ तो आप ही ने अपने हाथों से स्थापित किये थे !

विशु : जानता हूँ। लेकिन मंदिर की महती कल्पना मेरी बुद्धि के परे हो चली है। मुझे न मालूम था कि सूर्यदेव के जिस विशाल वाहन का स्वप्न मैं देखा करता था, वह सच्चा होते-होते इस

---

*अम्ल, त्रिपटधर, कलश और छप्र तत्कालीन उड़िया मंदिरों की देउलि यानी मुख्य खंड (जिसे विमान भी कहते हैं) के सबसे ऊपरी अंश के विभिन्न अंगों के नाम हैं। 'भूमि' स्थापत्य में 'आधार' का द्योतक है। विमान के आगे जगमोहन (जिसका उल्लेख द्वितीय अंक में है) मंडप के तौर पर होता था और उसके भी आगे नट-मंदिर नृत्य-प्रदर्शन इत्यादि के लिए मंडप।

पार्थिव धरातल से उठ कर भगवान् भास्कर के चरण छूने के लिए उतावला हो उठेगा ।

राजीव : राजनगरी के ज्योतिषी भानुदत्त का कहना है. . . .

[नेपथ्य में निकट आते नूपुरों की ध्वनि । सौम्यश्री का प्रवेश । सिर पर उष्णीष, कानों में मकरकुंडल, गले में हार, हाथों में मंजीर—मानो विशेषतः तैयार हो कर आये हों ।]

सौम्य० : यह ठीक रहेगा न विशु? **(अपनी वेश-भूषा विशु को दिखाते हैं ।)**. . .कोई कमी तो नहीं है, नाटयाचार्य की वेश-भूषा में ?

राजीव : हाथों में वीर-शृंखला कहाँ है, तात सौम्यश्री ?

सौम्य० : इतना भी नहीं समझे राजीव ? हाथों में मंजीर देखते हो ? मंजीर बजाने की भंगिमा यदि नहीं हो तो वह नाट्याचार्य की मूर्ति क्योंकर लगेगी ? और यदि मंजीर बजाना है तो सुवर्ण-शृंखला कलाइयों में कैसे ठहर सकती है !

राजीव : समझा तात ।

सौम्य० : लेकिन तुम्हारा क्या विचार है विशु ? हाथों को कटकमुद्रा में रखूँ न ? यह देखो, बायें हाथ में मंजीर को उलटा करके इस तरह रखूंगा ।**(बायें हाथ वाली मंजीर को वक्ष से लगा कर उलट कर रखता है ।)** और दायें हाथ को ऊपर से कटकमुद्रा में इस तरह ! **(दिखाता है ।)**—मानो मंजीर बजाकर मैं नर्तकियों को संकेत दे रहा हूँ । ठीक है न ?–**(विशु को चुप और ध्यानमग्न देख कर रुक जाता है)** मामला क्या है विशु ?

विशु : **(राजीव से)** ज्योतिषी क्या कहता है, राजीव ?

राजीव : कहता है, कोणार्क देवालय ज्यों ही पूरा होगा त्यों ही इसके पत्थरों में पंख लग जायेंगे और सारा मंदिर आकाश में उड़ जायगा। . . .

सौम्य० : मैंने भी सुनी थी यह भविष्यवाणी । लेकिन एक परिवर्तन चाहता हूँ ।

राजीव : वह क्या तात सौम्यश्री ?

सौम्य० : मंदिर उड़ेगा नहीं । नाट्याचार्य सौम्यश्री के संकेत पर जब नट-मंदिर में देवदासियाँ नृत्य करेंगी तो ताल देने के लिए कोणार्क देवालय ही थिरक उठेगा! ....ता थेई, ता थेई था...

[नृत्य-भंगिमा में पद-क्षेप करता है ।]

विशु : परिहास की बात नहीं है बंधु !

सौम्य० : विशु, तो क्या तुम सच मानते हो कि कोणार्क के ये भारी पत्थर, ये विशालकाय मूर्तियाँ गगनगामी हो जायेंगी ?

विशु : **(विचारपूर्ण मुद्रा)** कह नहीं सकता । पर एक बात अवश्य है। हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है । **(सोत्साह)** वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है। उसके पैर धरती पर नहीं टिकते । पत्थर का यह मंदिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है । लेकिन. . . लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से ।...मुझे लगता है, जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश के बीच भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है ।

सौम्य० : पृथ्वी और आकाश के संघर्ष की बात फिर सोचना विशु ! उत्कल के पृथ्वीपति की क्रोधाग्नि झेलने का भी कोई प्रबंध किया है ?

विशु : महाराज श्रीनरसिंहदेव की क्रोधाग्नि ? उसे तो करुणा की फुहारें क्षण-भर में शांत कर देती हैं ।

सौम्य० : लेकिन वही फुहारें जब गर्म तवे पर पड़ती हैं, तो उसकी जलन और भी बढ़ जाती है और फुहारें छू-मंतर हो जाती हैं ।

विशु : तुम्हारा मतलब ?

सौम्य० : उत्कल-नरेश का क्रोध चाहे क्षणिक भले ही हो, लेकिन

महामात्य राजराज चालुक्य उसे प्रज्वलित रखते हैं और उन्होंने दया से पसीजना नहीं सीखा है ।

विशु : महामात्य चालुक्य राज्य के सब कुछ नहीं हैं ।

सौम्य० : तुम भ्रम में हो, बंधु ! महाराज नरसिंहदेव तो वंग प्रदेश में यवनों को पराजित करने में लगे हैं और लोग कहते हैं, राजनगरी में महामात्य ही आजकल सर्वेसर्वा हैं ।

राजीव : तात, दूर-दूर से आने वाले शिल्पी, महामात्य द्वारा किये गये अत्याचारों के समाचार लाते हैं । उनमें से कितनों ही के कुटुंबों पर महामात्य के अन्याय का हथौड़ा पड़ चुका है । दिन-प्रति-दिन तरह-तरह की आशंकाजनक खबरें आ रही हैं ।

सौम्य० : सुना है अब तो महादंडपाशिक के सब अधिकार भी उन्होंने हथिया लिये हैं ।

राजीव : तब तो सारे दंडपाशिक* सैनिक उनके अधीन होंगे !

सौम्य० : वही तो । राज्यसेना तो वंग प्रदेश में यवनों से लड़ रही है और इधर दंडपाशिक सैनिकों के बल पर महामात्य की शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है ।

विशु : किसी की शक्ति बढ़े और किसी की घटे; हमें तो कोणार्क को पूरा करना है ।

राजीव : यदि आप धर्मपद की बात सुनें तो शायद अपना विचार बदल डालें, तात ।

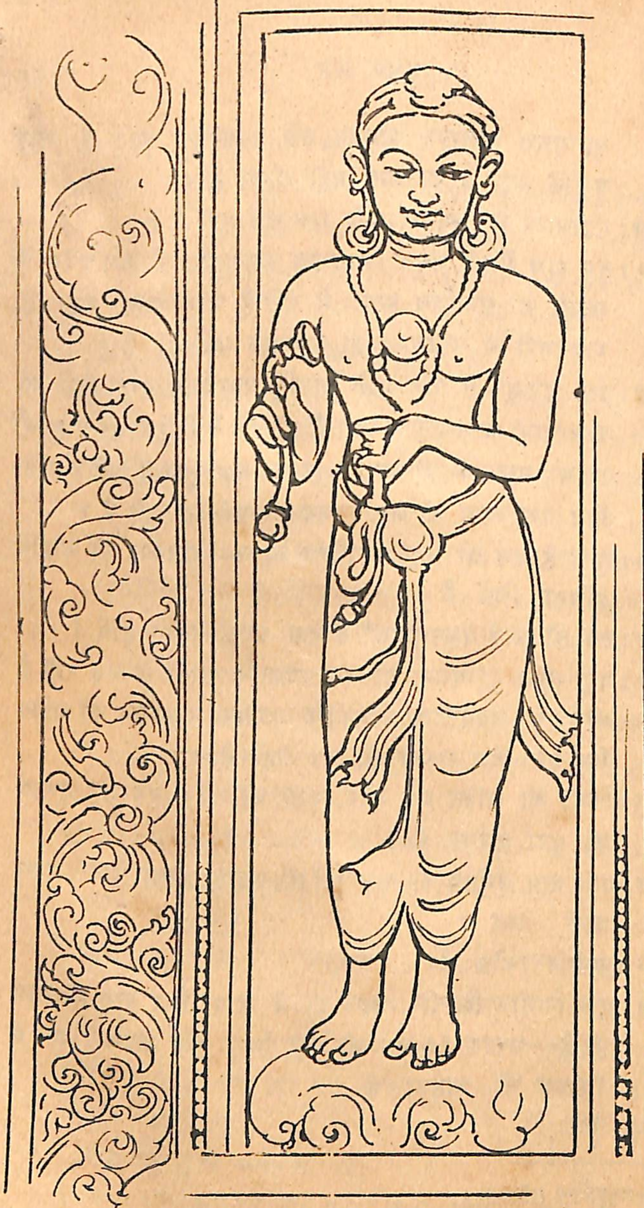
सौम्य० : धर्मपद !कौन ?

राजीव : एक किशोर शिल्पी । हाल ही में आया है । आयु तो अल्प ही है—शायद १६ वर्ष भी नहीं, किंतु बुद्धि तीक्ष्ण । आप से मिलना भी चाहता है ।

विशु : क्यों ?

---

*तत्कालीन पुलिस ।



सौम्य श्रीदत्त

कोणार्क-मन्दिर से प्राप्त एक मूर्ति के आधार पर

राजीव : साफ नहीं बताता। विचित्र जीव है। कभी तो मौन हो मंदिर के कलश की ओर निर्निमेष देखता रहता है और कभी अल्प समय में ही चमत्कारपूर्ण मूर्तियां तैयार कर देता है। कीर्ति-स्तंभ पर गायकों के रूप उसी ने उत्कीर्ण किये हैं।

विशु : एक १६ वर्ष के किशोर ने ? राजीव, मैं उससे मिलूंगा।

राजीव : कहिए तो अभी बुला लाऊँ। तात, उसकी ओजमयी वाणी में आपको विस्मृत विद्रोह का ताप मिलेगा।

विशु : शिल्पी को विद्रोह की वाणी नहीं चाहिए, राजीव! मेरी कला में जीवन का प्रतिबिंब और उसके विरुद्ध विद्रोह, दोनों सन्निहित हैं। तुम उस किशोर को बुला लाओ। मेरी दृष्टि के स्पर्श से उसकी प्रतिभा की गंध जागृत हो कर उसकी वाणी को मौन कर देगी। मुझे उसकी कला चाहिए।

[राजीव का प्रस्थान].

सौम्य० : मुझे भी उसकी कला चाहिए।

विशु : क्या उसे नृत्य-संगीत सिखाओगे बंधु ?

सौम्य० : नहीं। . . सोचता हूँ मेरी मूर्ति तुम तो पूरा करने से रहे ! इधर मैं तैयार खड़ा हूँ। यह प्रतिभावान् किशोर ही उसे पूरा कर देगा।

विशु : यह कैसे हो सकता है ? लाओ अभी पूरा करता हूँ। (छैनी-हथौड़ी से प्रस्तर-खंड पर अधूरी मूर्ति को पूरा करने में लग जाता है। सौम्यश्री को कभी-कभी सिर उठा कर देखता जाता है। सौम्यश्री तत्पर मुद्रा में खड़ा है।)

सौम्य० : कितनी देर इस वेश-भूषा में खड़ा रहना पड़ेगा ?

विशु : थोड़ी ही देर। . . . जल्दी है।

सौम्य० : नहीं। . . . प्रतिष्ठापन में जितनी ही देरी हो रही है उतना ही समय मुझे मिल जाता है, संगीतक* की तैयारी के लिए।

*'संगीतक' शब्द साहित्य में ऐसे प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है,

विशु : तो फिर 'गीतगोविन्द' ही दिखाओगे ?

सौम्य० : क्या ही अच्छा होता यदि जयदेव ने सूर्यभगवान् पर वैसा ही संगीतक रचा होता !

विशु : 'गीतभास्करम्' ।

सौम्य० : यही नाम मैंने रखा है ।

विशु : तो क्या सच भास्कर भगवान् पर ही संगीतक प्रदर्शित करोगे ?

सौम्य० : उससे अधिक समीचीन और कौन चीज होगी कोणार्क के नट-मंदिर में ?

विशु : लेकिन सूर्य भगवान् की कथा में वह रमणीयता कहाँ ?

सौम्य० : है ! प्रणय-प्रसंग भी !

विशु : प्रणय-प्रसंग ?

सौम्य० : कुंती और सूर्यदेव ! लोग समझते हैं कुंती ने ऋषि का वरदान जाँचने के लिए सूर्य भगवान का आह्वान किया ! . . . जी नहीं ! क्षितिज पर सबेरे की अरुणिमा की भाँति, तेजस्वी सूर्यदेव का मादक स्वरूप, कुंती के मानस-गगन के छोर पर खिच गया । और फिर ?—जैसे पूर्व दिशा की लालिमा, मध्याह्न का जगमगाता और प्रचंड ताप बन जाती है, ठीक वैसे ही, दोनों का अनुराग, एक उत्तप्त और विश्वव्यापी विलास बन गया । कोणार्क की युगल मूर्तियों में वही विलास बिखरा पड़ा है,—उद्दाम और यौवन का वेग, उत्तान श्रृंगारका उल्लास ! . . . और फिर—

विशु : (टोकता हुआ) सौमू ! सौमू !

सौम्य० : (उसी धुन में) और फिर ? विलास के बाद वियोग ! विशु, मेरे इस संगीतक में जयदेव और कालिदास दोनों का मणिकांचन

जिसमें संगीत, नृत्य और अभिनय का संयोग हो, जैसे आधुनिक 'ओपेरा'—बाणभट्ट की 'कादंबरी' में 'चतुर्भाणी' और विद्यापति के 'गोरक्षविजय' नाटक में संगीतकों का उल्लेख मिलता है ।

संयोग होगा, अद्‌भुत संयोग ! ...गीतों में गोपियों की विरह-वेदना बूँद-बूँद मर्मज्ञों के हृदय को सालेगी ।...और मुद्राओं में शकुन्तला की विवशता !—अज्ञात संतान का भार लिये कुंती उपालंभ करेगी, अपने दिव्य, तेजस्वी प्रेमी—सूर्य देवता के प्रति, उसकी निठुरता, निर्ममता, हृदयहीनता—

विशु : नहीं, नहीं, नहीं ! **(छैनी और हथौड़ी को छोड़ कर उद्‌भ्रांत-सा उठ खड़ा होता है और सौम्यश्री की ओर बढ़ता है।)** यह संगीतक नहीं होगा । कभी नहीं ! **(भावावेश में एक कोने की तरफ मुड़ कर खड़ा हो जाता है। हाथों में मुँह ढँकता हुआ मंद स्वर में)** नहीं !

सौम्य० : यह क्या विशु... **(निकट जा कर)** क्या बात है ।

विशु : **(वही मंद स्वर)** कुछ नहीं !

सौम्य० : बंधु, मुझसे छिपाओ नहीं ! इतना उत्तेजित होते मैंने तुम्हें पहले कभी नहीं देखा !

विशु : **(कुछ रुक कर)** सौमू, उधर देखो ! **(जो मूर्ति उत्कीर्ण कर रहा था, उसकी ओर संकेत करता है।)**

सौम्य० : **(मूर्ति के निकट जा कर उसे गौर से देखता हुआ)** बहुत भव्य बन पड़ी है मेरी प्रतिमा ! अद्‌भुत है तुम्हारा कौशल !... लेकिन **(और भी गौर से देखता है।)** लेकिन... **(अपने गले में लटके कंठहार को टटोलता हुआ)** कहाँ मेरा यह सीधा-सादा कंठहार और कहाँ उस मूर्ति के कंठाभरण के बीच कंकण पर खुदी कामदेव की मनोहर छवि !

विशु : वह कंकण हाथी दाँत के एक कंकण की नकल है ।

सौम्य० : देखूँ कैसा कंकण है वह !

विशु : वह कंकण ?...वह कंकण तो किसी हतभाग्य सूर्यदेव ने किसी सम्मोहित कुंती को दिया था, सत्तरह बरस हुए ।

सौम्य० : **(साश्चर्य)** विशु !

विशु : हाँ सौमू ! (विभोर-सा) वह वन की कली थी। जंगली शबर जाति की कन्या। चट्टान को फोड़ कर बहने वाली निर्द्वन्द्व, निष्कलुष जल-धारा !

सौम्य० : शबर-कन्या ?

विशु : उसका नाम था सारिका ! हमारे नगर में हाट के दिन, अपने गाँव वालों के साथ, जंगली छाल, जड़ियाँ बेचने आती !

सौम्य० : और नगर की ऊँची अटारी का वासी सूर्य, उस वन-कलिका पर मुग्ध हो गया।

विशु : जैसे स्वर और ताल एक-दूसरे पर रीझते हैं ! वह मदभरे पावस-सी उन्मत्त थी, पुष्पावृत कामनी-तरु-सी संपन्न !

सौम्य० : लेकिन वह रागिनी टूटी कैसे ?

विशु : वही कायरपन की कथा ! सूर्यदेव भी तो कायर ही थे ?

सौम्य० : और कुंती भी। तभी तो उसने अपनी संतान को गंगा में बहा दिया !

विशु : लेकिन उसने ऐसा नहीं किया होगा, सौमू, कदापि नहीं।

सौम्य० : तुमने अपनी संतान को देखा था ?

विशु : नहीं सौमू ! जब मुझे ज्ञान हुआ कि वह माँ बनने वाली है तो कुल और कुटुंब के भय ने मुझे ग्रस लिया। नदी पर बढ़ती साँझ की तरह उस भय की तंद्रा मेरी बुद्धि पर छा गयी। और मैं भाग आया, सारिका और उसकी अज्ञात संतान से दूर—बहुत दूर—भुवनेश्वर में देव-मंदिर की छाया में, —कला के आँचल में अपना मुँह छिपाने !

सौम्य० : (कुछ सोच कर) वियोग के बादलों पर सूर्य की किरनें बिखरीं और कला का सतरंगी इन्द्रधनुष सारे उत्कल पर छा गया !... कैसी विडंबना है विशु, कि तुम्हारी टूटी हुई रागिनी का विषाद ही तुम्हारी चमत्कारपूर्ण कला का वैभव बना !

विशु : (आविष्ट स्वर) सौमू, भव्य मंदिरों को बनाने वाले मेरे ये हाथ

सारिका और उसकी संतान के लिए एक झोंपड़ी भी न बना सके!

सौम्य० : सत्तरह बरस तक जिस आशा पर तुम अपने मन में इस रहस्य को सँजोये रहे वह वृथा नहीं जायगी विशु !

विशु : आशा ? ...जंगलों में भटकने वाली निराश्रिता अविवाहिता माँ और उसके बच्चे से मिलने की आशा ? ...नहीं सौमू, नहीं ! ...मुझे प्रायश्चित्त करना होगा ।

सौम्य० : प्रायश्चित्त ? कैसे ?

विशु : सौमू, अगर कोणार्क पूरा नहीं हुआ तो उसे नष्ट करना होगा । यही होगा मुझ पातकी का प्रायश्चित्त !

सौम्य० : शिल्पी ! तुम विष्णु हो, शंकर नहीं । निर्माता हो, संहारक नहीं । ...और फिर ये स्तंभ और ये पाषाण ! इन्हें तो भूकंप ही गिरा सकता है, अथवा काल की गति !

विशु : सौमू, जिन चुंबक पत्थरों के आकर्षण से, भगवान् सूर्य की विशाल मूर्ति निराधार स्थित है, तुमने उन्हें ध्यान से देखा है ?

सौम्य० : क्या उनमें भूकंप की शक्ति भरी है ?

विशु : सुनो एक रहस्य की बात ! ठीक बीच में जो चुंबक है उसे हटाते ही मूर्ति बड़े वेग से गिर पड़ेगी और भूकंप की भाँति ही मंदिर की शिलाएँ और स्तंभ गिरने लगगे और—

[राजीव का प्रवेश । साथ में एक और युवक । वय लगभग १६ वर्ष । साँवला रंग । उसके दृढ़ कपोल, तेजोमयि आँखें, घुंघराले बाल घोषित करते हैं कि वह असाधारण वृत्ति का व्यक्ति है । तंग अँगरखा और ऊँची धोती पहने है । राजीव के पीछे-पीछे आकर द्वार के निकट खड़ा होता है । जब विशु से बातें करता है, तब उसकी दृष्टि मानो विशु की काया के नीचे अंतर्हित किसी पुरातन विशु को खोजती है ।]

राजीव : आचार्य, यह वह युवक है; धर्मपद ।

विशु : तुम ! (धर्मपद प्रणाम करता है ।) सुना है तुम आशु-शिल्पी हो । इतनी छोटी वय में तुम्हें किस गुरु ने दीक्षा दी ?

धर्मपद : किसी ने नहीं आचार्य । मैं शिल्पी बना, क्योंकि मुझे जीवित रहना था ।

विशु : कला तुम्हारा जीवन है, यही न ?

धर्मपद : जीवन भी है और जीवन-यापन का साधन भी ।

विशु : वह सारे जीवन का प्रतिबिंब है । देखो हमारे कोणार्क देवालय को आँखें भर कर देखो । यह मंदिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है । हमने जो मूर्तियाँ इसके स्तंभों, इसकी उपपीठ और अधिस्थान में अंकित की हैं उन्हें ध्यान से देखो । देखते हो, उनमें मनुष्य के सारे कर्म, उसकी सारी वासनाएँ, मनोरंजन और मुद्राएँ चित्रित हैं । यही तो जीवन है ।

धर्मपद : क्षमा करें आचार्य, शृंगार-मूर्तियों को देखते-देखते मैं अघा गया हूँ ।

सौम्य० : अभी से ? हँ हँ ! युवक, किसी रमणी के सामने यह बात न कह देना, नहीं तो तुम्हें अविवाहित रहना पड़ेगा ।

विशु : (गंभीर होकर) तो तुम उन लोगों में हो, जो इन प्रणय-मूर्तियों में अश्लीलता देखते हैं, जीवन का आदि और उत्कर्ष नहीं ?

धर्मपद : जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढ़ी है—जीवन का पुरुषार्थ । अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस पुरुषार्थ को भूल गयी है । जब मैं इन मूर्तियों में बँधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटने वाले लकड़हारे की ! . . . इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य !

विशु : लेकिन कला नहीं । कला की पूर्ति चयन में है—छाँटने में । जंगल में तरह-तरह के फूल, पौधे, चाहे जहाँ उगे रहते हैं,

लेकिन उपवन में माली छाँट-छाँट कर सुंदर और मनमोहक पौधों और वृक्षों को ही रखता है।

धर्मपद : छाँटने वाली आँखों का खेल है आचार्य ! आज के शिल्पी की आँखें वहाँ नहीं पड़तीं, जहाँ धूल में हीरे छिपे पड़े हैं।

राजीव : मैं ठीक कहता था न, धर्मपद तर्क-निपुण है ?

धर्मपद : मैं तर्क करने नहीं आया हूँ। मैं तो एक ऐसे संसार की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ जो कि आपके निकट होते हुए भी आपकी आँखों से ओझल हो गया है। इस मंदिर में बरसों से १२०० से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं आप कि महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है; कइयों की स्त्रियों को दासियों की तरह काम करना पड़ा है, और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है।

विशु : तुम समझते हो कि हम लोगों को यह सब मालूम नहीं है ? लेकिन राज्य की बातों में पड़ना शिल्पियों के लिए अनुचित है।

[बाहर दाहिनी ओर कुछ हलचल, मानो दूर पर अश्वारोही आ रहे हों। राजीव बाहर जाता है।]

धर्मपद : मगर यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार और अकाल की लपटें बढ़ रही हों, शिल्पी एक शीतल और सुरक्षित कोने में यौवन और विलास की मूर्तियाँ ही बनाता रहे। अगर मुझे महाशिल्पी के अधिकार मिले होते तो—

सौम्य० : तो तुम कोणार्क को अब तक कभी का पूरा कर चुके होते। हँ...हँ...हँ... (अविश्वास का हास्य)

धर्मपद : पूरा करना अब भी कठिन नहीं।

[बाहर कोलाहल बढ़ रहा है।]

सौम्य० : क्या ? धर्मपद तुम भूल रहे हो कि तुम महाशिल्पी आचार्य विशु के सामने खड़े हो। पिछले दस दिन से निरंतर चेष्टा

करने पर भी ये मंदिर पर कलश को स्थापित नहीं कर सके; और तुम—शास्त्रीय अध्ययन और अनुभव से शून्य—तुम कहते हो, इसे पूरा करना कठिन नहीं ! अपनी शक्ति से बाहर की बात न करो युवक !

विशु : (जो अब तक मौन हो इस वार्त्तालाप को सुनता रहा है ।)
नहीं सौम्य, उसे अपनी बात पूरी कहने दो । बोलो युवक, क्या तुम अम्ल के ऊपर शिखर को स्थापित कर सकते हो ? करोगे? ...सोच-समझ कर उत्तर दो । यह साधारण समस्या नहीं है ।
[इतने में कोलाहल बहुत बढ़ जाता है । तेजी के साथ राजीव का प्रवेश]

राजीव : (हाँफते हुए) आचार्य ! महामात्य चालुक्य आ रहे हैं ।

विशु :
सौम्य० : } चालुक्य !!
धर्मपद :

विशु : चालुक्य ? यहाँ आ रहे हैं, बिना पूर्व-सूचना दिये ?

राजीव : जी हाँ । कई अश्वारोही साथ हैं । (बाहर तुरही की आवाज) सुनिए !
[दूर से उच्च स्वर में प्रतिहारी बोलता है—"सावधान, सावधान, श्री महामात्य महादंडपाशिक राजराज चालुक्य पधारते हैं, सावधान !"]

सौम्य० : महादंडपाशिक! सुना तुमने, विशु ? (खिड़की से झाँकता है ।)

विशु : ऐसी जल्दी में महामात्य का हम यथोचित स्वागत कैसे कर सकते हैं ? राजीव, अंदर से वेत्रासन तो ले आओ ! (राजीव बायीं तरफ जाता है और एक वेत्रासन लेकर लौटता है ।) युवक, तनिक इस तोशक और चादर को भली-भाँति रख दो । (धर्मपद चौकी के तोशक इत्यादि को ठीक करता है ।)— सौम्य, महामात्य प्राचीर के अंदर आ गयें ?

सौम्य० : (खिड़की से मुंह हटाते हुए) वे यहीं सीधे आ रहे हैं, विशु ! (रुक कर) महामात्य का इस तरह सहसा आना मुझे अच्छा नहीं लगता, विशु !

[नेपथ्य से निकट आता हुआ स्वर "सावधान, सावधान"]

राजीव : आचार्य ! वे आ गये—

[दो प्रतिहारियों का प्रवेश । प्राचीन भटों का वेश, कंधों पर गदा या खड्ग । अंदर आकर द्वार के दोनों ओर खड़े हो जाते हैं । उसके बाद महामंत्री चालुक्य आते हैं । पुष्टकाय, आयु लगभग ४५, मुख पर क्रूर मुद्रा, बड़ी-बड़ी मूँछें । नेत्र छोटे हैं और बातें करते समय संकुचित लगते हैं । बातचीत के वक्त भौहें सिकुड़ जाती हैं और बायें हाथ से ठुड्डी को सहलाते भी हैं । पोशाक—पुराने ढंग से बाँधी हुई धोती, रेशमी उत्तरीय, सुवर्ण-पट मस्तक पर, बाजू पर एक बाजूबंद, कमर में कटार । उत्तरीय कुछ लटक रहा है और एक हाथ से उसे पकड़ते हुए वेग से अंदर आते हैं और अभ्यर्थना की उपेक्षा करते हुए बैठ जाते हैं । धर्मपद बीच वाले दरवाजे के पास खड़ा है; सौम्यश्री खिड़की के पास, राजीव दरवाजे के निकट और विशु सब के बीच में कुछ आगे । सभी लोग झुक कर महामात्य को प्रणाम करते हैं । कुछ क्षण के लिए स्तब्धता ।]

चालुक्य : (कमरे के सभी व्यक्तियों पर सरसरी निगाह डाल कर फिर विशु पर आँखें ठहरा देते हैं ।) तुम जानते हो विशु, मैं क्यों इस तरह सहसा आया हूँ ?

विशु : आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली—

चालुक्य : सूचना देता, तो तुम लोगों का भंडाफोड़ कैसे होता ?

विशु : जी ?

चालुक्य : राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राज्य-कोष का धन नष्ट हो रहा है। न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं न मजदूर। दस दिन हो गये, कलश तक स्थापित न हो सका।

विशु : हम लोग बराबर उसी की चेष्टा में लगे हुए हैं।

चालुक्य : **(मुँह बनाते हुए)** चेष्टा में लगे हुए हैं... यहाँ तो मैं देखता हूँ गप्पें हो रही हैं। **(सहसा धर्मपद पर दृष्टि पड़ जाती है, इशारा करते हुए)** और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा है?

धर्मपद : मैं? मैं आचार्य के सामने शिल्पियों की दुःख-गाथा कह रहा था।

चालुक्य : शिल्पियों की दुःख-गाथा? प्रतिहारी, इसे धक्का दे कर बाहर निकालो। मुफ्तखोर कहीं का।

धर्मपद : मैं आप ही जाता हूँ। **(बीच वाले दरवाजे से प्रस्थान, आहत अभिमान की मुद्रा।)**

विशु : महामंत्री, आपके शब्द बहुत कटु हैं। उसे तो मैंने ही—

चालुक्य : कटु शब्द! **(पैशाचिक हास्य)** अब कटु शब्दों से काम नहीं चलेगा, विशु। मैंने सुना है कि शिल्पी लोग राज्य के विरुद्ध सिर उठा रहे हैं, सुवर्ण-मुद्राओं में वेतन माँगते हैं, और—

सौम्य० : महामात्य, आपको किसी ने बढ़ा कर खबर दी है। सुवर्ण-मुद्रा भला ये बेचारे क्या माँगेंगे? हाँ, यह अवश्य है कि इस अकाल के समय उनके कुटुंबों पर महान् कष्ट आ पड़ा है।

चालुक्य : देखता हूँ नाट्याचार्य, तुम भी इन लोगों से मिले हुए हो। मंदिर पूरा होना तो अलग रहा, यहाँ—तुम लोग मिलकर राज्य पर दबाव डालने के लिए अभिसंधि कर रहे हो। इसे—

विशु : महामंत्री, मेरी भी सुनिए—

चालुक्य : चुप रहो। मैं तुम जैसे लोगों को राह पर लाने की युक्ति भली-भाँति जानता हूँ। (खड़ा हो जाता है) विशु, बरसों से बिन-माँगी प्रशंसा सुनते-सुनते तुम अपने को दंड-विधान से परे समझने लगे हो। आज मैं तुम्हारे इस घमंड को चूर करने ही

आया हूँ ।... सुन लो और कान खोल कर सुन लो ! आज से एक सप्ताह के अन्दर यदि कोणार्क देवालय पूरा न हुआ; तो (कुछ रुक कर, शब्दों पर जोर देते हुए) तुम लोगों के हाथ काट दिये जायेंगे ।

[भयाक्रांत नीरव]

विशु : (अविश्वासपूर्ण स्वर में) शिल्पियों के हाथ काट लिये जायेंगे ?

चालुक्य : (सरोष) हाँ, शिल्पियों के हाथ काट लिये जायेंगे । आज से आठवें रोज या तो मंदिर में सूर्यदेव की मूर्त्ति का प्रतिष्ठापन होगा या तुम बारह सौ व्यक्तियों की भुजाओं पर प्रहार । [द्वार की ओर बढ़ता है, प्रतिहारी भी प्रस्थानोन्मुख होते हैं ।]

विशु : इतना भीषण दंड ?...क्या यही उत्कल-नरेश की आज्ञा है ?

चालुक्य : (रुकता हुआ) हाँ, हाँ । महाराज नरसिंहदेव की आज्ञा है । ...और मेरी महादंडपाशिक की आज्ञा है । (चलते समय सब लोगों पर क्रूर दृष्टि डालते हुए) उत्कल-नरेश ...। हूँ ।

[प्रस्थान । पदचाप । थोड़ी देर बाद नेपथ्य से दूर होता हुआ स्वर "सावधान, सावधान, महादंडपाशिक राजराज चालुक्य पधारते हैं—सावधान, महामात्य"...स्वर मंद हो जाता है । इधर सब लोग चुप खड़े हैं—चिंतित ।]

राजीव : (नीरव तोड़ते हुए भीत स्वर में) अब क्या होगा ?

[विशु अचेतन-सा चौकी पर बैठ जाता है ।]

सौम्य० : राजनगरी में अपराधियों के हाथ कटते मैंने देखे हैं । बड़ी पीड़ा होती है ।

विशु : (मानो सपने में) उत्कल-नरेश की आज्ञा ? महाराज मेरी बरसों की सेवाओं पर इतना भीषण कुठाराघात करेंगे !

सौम्य० : क्या मालूम उत्कल-नरेश की आज्ञा है, या महामात्य का अपना उत्पात ! हमारे पास साधन भी नहीं, समय भी तो नहीं कि

महाराज के मन की बात जान सकें। वे अभी तक वंग-विजय के उपरांत लौटे भी नहीं हैं।

राजीव : सात दिन! —केवल सात दिवस के बाद हम सबों के हाथ काट लिये जायँगे ?

सौम्य० : ये हाथ . . . (काँप कर हाथों को देखता हुआ) ये हाथ !

[सूखी हँसी]

राजीव : क्या कोई उपाय नहीं अचार्य ?

[पीछे वाले द्वार से धर्मपद आता हुआ दृष्टिगोचर होता है।]

धर्मपद : (आते-आते) एक उपाय है। (सब लोग उसकी ओर देखने लगते हैं।)

सौम्य० : धर्मपद !

राजीव : तुम फिर आ गये ? तुमको तो...

विशु : (क्षुब्ध स्वर में) युवक, वह तुम्हारा अपमान नहीं, मेरी प्रतारणा थी।

धर्मपद : आचार्य, ठोकर खाकर धूल सिर पर चढ़ती है।

सौम्य० : सिर पर चढ़ने के सपने छोड़ दो युवक! कोणार्क के प्रांगण में सात रोज बाद उत्कल के समस्त शिल्पियों का रक्त बहेगा।

धर्मपद : मैंने सुना है। मैं बाहर पास ही खड़ा था।

विशु : युवक, विनाश का वह संदेश अपने साथियों को भी सुना दो, मुझमें साहस नहीं कि उस विकराल घड़ी के लिए उन्हें तैयार कर सकूँ।

धर्मपद : निर्दय अत्याचार की छाया में ही जो विकसते और मुरझाते हैं, उनको एकाध विपत की घड़ी के लिए तैयार होने की जरूरत नहीं आर्य.. लेकिन मैं कहता हूँ इसकी नौबत ही क्यों आये ?

विशु : मेरी बुद्धि काम नहीं दे रही है।

धर्मपद : मुझे अवसर दें आचार्य !

विशु : तुम्हें ?

धर्मपद : महामंत्री के आने से पहले आपने मुझसे पूछा था—'क्या तुम अम्ल के ऊपर शिखर को स्थापित कर सकोगे ?' मेरा उत्तर है आचार्य कि मुझे अवसर दिया जाय ।

विशु : यदि अवसर दिया जाय तो तुम क्या करना चाहोगे ?

धर्मपद : आचार्य, मुझे लगता है कि कोणार्क के कमल की पंखुड़ियाँ, उलटी हैं । उन्हें उलट देने पर कलश शायद ठहर सकेगा ।

सौम्य० : कोणार्क का कमल ?

राजीव : तुम्हारा मतलब छप्र के ऊपर कमलाकार अम्ल से है ?

धर्मपद : जी ! यदि इसके हरेक पटल को फिर से इस तरह रखा जाय कि जो बाहरी हिस्सा है वह अंदर केंद्र पर हो और जो नुकीला भाग है, वह बाहर निकले तो उसकी आकृति खिले कमल की-सी हो जायगी, कली की-सी नहीं । लेकिन कलश स्थिर रहेगा

विशु : **(मानो अंधे को टिमटिमाता प्रकाश दीखा हो)** युवक ! तुम्हारी बात सारहीन नहीं जान पड़ती । अम्ल के केंद्र पर शायद अधिक भार देने से कलश की यष्टि को सहारा मिले। **(विचार मन-मुद्रा ।)**

धर्मपद : **(खड़िया से एक पत्थर पर जल्दी-जल्दी आकृति खींचता हुआ)** मेरे मन में जो चित्र है उसे यों पूरी तरह तो नहीं समझा सकता, किंतु देखिए, अम्ल का आकार यदि कुछ इस तरह का हो तो—**(राजीव और विशु धर्मपद के निकट आकर रेखाचित्र का अवलोकन करते हैं ।)**

विशु : **(ध्यान-मग्न मुद्रा में कुछ दूर हटते हुए)** हूँ। . . . इस बात में कुछ तथ्य है। . . .शायद. . .शायद अम्ल के बाहरी भाग पर इस समय अनुपात से अधिक भार है । . . . अगर. . . अगर . . .हम उस भाग को हल्का कर सकें ! तुम ठीक तो कहते हो

युवक (खड़े होते हुए) तुम ठीक कहते हो। ... भार को हल्का करने के लिए अगर पटल को अंतर्मुखी कर दिया जाय तो संभव है, संभव है,... संभव !! (कलाकार की भावना चरम बिंदु पर पहुँच गयी है) धर्मपद, चलो मेरे साथ। अभी चलो। हम छत्र के ऊपर चढ़कर अभी तैयारी करेंगे—पटल बदलने की। अभी ! (मध्य द्वार की ओर बढ़ता है)

धर्मपद : ठहरिए !

विशु : (मानो स्वप्न भ्रष्ट हुआ हो) एं !

धर्मपद : ठहरिए ! ... यदि मेरी युक्ति सफल हो जाय और कोणार्क के शिखर को हम स्थापित कर सकें, तो मुझे क्या मिलेगा ?

विशु : तुम क्या चाहते हो ? जो कुछ मेरे हाथ है, तुम्हें दूंगा।

धर्मपद : मैं चाहता हूँ यदि शिविर पूरा हो जाय, तो एक दिन के लिए, सिर्फ एक दिन के लिए—मंदिर-प्रतिष्ठापन के दिन—आप अपने सब अधिकार मुझे दे दें।

विशु : अगर कोणार्क पूरा हो जाता है, तो एक दिन क्या, सभी दिनों के लिए वे अधिकार तुम्हारे हो जायँगे। मैं तुम्हें अपने स्थान पर प्रधान शिल्पी बना दूंगा।

राजीव : यह आप क्या कह रहे हैं, महाशिल्पी ?

सौम्य० : (साश्चर्य) विशु ?

विशु : मैं ठीक कह रहा हूँ। इस युवक की प्रभा ने मुझे मुग्ध कर लिया है। राजीव, तुम नहीं जानते। मुझे प्रधान के पद से कोई मोह नहीं। मोह है तो यही कि कोणार्क पूरा हो जाय।... आज इस युवक ने ठंडी होती हुई राख को फूंक मारकर प्रज्ज्वलित कर दिया है। मेरे हाथ, मेरी भावनाएँ इसी क्षण कोणार्क को पूरा करने के लिए आतुर हैं। ...चलो युवक !

[धर्म पद का हाथ पकड़ कर मध्य-द्वार से सवेग प्रस्थान।]

[पटाक्षेप]

उपकथन

[झीने अंधकार में उपक्रम ही की भाँति विराट नेपथ्य-संगीत। उसी भाँति थोड़ी देर में संगीत हठात् रुक जाता है। पूर्ण मौन। प्रकाश सूत्रधार और वाचिकाओं पर पड़ता है, और एक-एक करके जब वे बोलते हैं तो बोलने वाले पर प्रकाश प्रखर हो जाता है।]

पहली वाचिका

अहा !

धर्मपद ही आशा का तट,
ज्योति के चरणों की आहट—

दूसरी वाचिका

अँधेरे के अधरों पर हास—
मुखर विशु के उर में उल्लास।

पहली वाचिका

सत्य क्या आशा है द्युतिमान ?

दूसरी वाचिका

अथवा ?

पहली वाचिका

क्षितिज पर चुपके घिरता मेघ !

दूसरी वाचिका

क्रूर उसकी दामिनी-मुसकान

सूत्रधार

कौन जाने ? कौन जाने ?

लेकिन आज, पंद्रह दिवस बाद, आज तो निश्चय ही—
कोणार्क के पूरे हुए शिखर पर, जागरण की ज्योति निखरी है;
क्योंकि स्वयं कलिंग-नरेश, यवनावनिवल्लभ, महाराज नरसिंहदेव पधारे हैं—मंदिर के प्रतिष्ठापन के लिए !
और विशु ?

सृजन के बवंडर ने जिस गगन-मंडल को झकझोर दिया था—
वही आज—
पूर्ति की स्निग्धता में आभासित है ।
वह सुनो, कलिंग-नरेश के जय-जयकार से कोणार्क का प्रांगण गूंज रहा है !
जय-जय, महाराज नरसिंहदेव की जय !

[प्रत्युत्तर में नेपथ्य से अनेक स्वरों में "महाराज नरसिंहदेव की जय !" सूत्रधार और वाचिकाओं का प्रस्थान । नेपथ्य में जय-जयकार जारी रहता है । अंधकार का लोप और—]

द्वितीय अंक

[महाशिल्पी विशु का वही कक्ष। मध्याह्न काल। कक्ष पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है। वातायन और द्वार में से तोरण एवं पताकाओं से सुशोभित मंदिर की आभा उत्कल-नरेश की उपस्थिति को घोषित करती है।]

वसन और आभूषण भव्य होने के साथ-साथ नरसिंहदेव के व्यक्तित्व में दर्प और आत्मीयता का आकर्षक मिश्रण है।

अपने पराक्रम से यवन सूबेदार को पराजित करने वाला यह सैनिक-नरेश—इस समय कलाकार की विभूति, कोणार्क,—को तैयार देख कर विभोर है। कभी चौकी पर बैठकर विशु इत्यादि से बातें करते हैं, कभी प्रसन्न मुद्रा से मंदिर की छवि का अवलोकन करते हैं।

पार्श्व में विशु, अन्य शिल्पी तथा नाट्याचार्य इत्यादि खड़े हैं। उनके पीछे उत्कल नरेश के रहस्याधिकारी महेन्द्रवर्मन हैं—हाथ में मंजूषा लिये हुए।]

विशु : कोणार्क के इस कोने में कलिंग-नरेश का स्वागत है।

नरसिंह० : इस स्वागत के लिए हम बहुत दिनों से लालायित थे। विशु,



उत्कल नरेश नरसिंहदेव
(कोणार्क के ध्वंसावशेषों में प्राप्त एक मूर्ति के आधार पर।)

कोणार्क को पूरा करके तुमने हमारे और उत्कल के गौरव को बढ़ाया है ।

विशु : वही गौरव तो पत्थर के शृंगार में निखरा है महाराज !

नरसिंह० : पत्थर । (मंदिर पर दृष्टि) यहाँ निकट से देखने पर तो प्रतीत होता है, मानो तुमने किसी जौहरी के गढ़े अलंकारों के पाषाण बना दिया हो । और दूर से इस विमान और जगमोहन के शिखर हिमाचल की चोटियों की स्पर्द्धा करते जान पड़ते हैं . . . । महेंद्र !

महेंद्र० : आज्ञा, देव !

नरसिंह० : राजकवि विश्वनाथ से कहो, अपने 'साहित्यदर्पण' में कोणार्क का प्रतिबिंब खोजें ।

महेंद्र० : सागर ही जिसका प्रतिबिंब है, राजकवि का 'दर्पण' उसकी झलक पा सकेगा, देव !

नरसिंह० : तो राज-गायक चंद्रधर से कहो, इस अद्‌भुत रागिनी की प्रति-ध्वनि को अपने गान में बांधे ।

महेंद्र० : जल-निधि की स्वर-लहरियाँ ही जिसकी गूंज है, उस रागिनी को कौन गायक बाँध सकेगा देव ?

नरसिंह० : विशु, जानते हो, यही वह गूंज थी, जो हमें वंग प्रदेश में यवनों को पराजित करते समय रण-भेरी में सुनाई दी थी ।

विशु : देव, कलाकार की रागिनी मर्मज्ञ के कर्ण-पुटों को ही खोजती है ।

नरसिंह० : विजय के तुरन्त बाद हम अपनी सारी सेना को वंग प्रदेश में ही छोड़ कर राजधानी को लौट पड़े । कोणार्क का सम्मोहन व्याध की वंशी था और हम थे विवश मृग ।

सौम्य० : तो क्या उत्कल-नरेश की विजय सेना और महासेनापति

प्रतिष्ठापन के अवसर पर न आ सकेंगे, महाराज ?

महेंद्र० : वे लोग अभी वंग देश में ही हैं।

नरसिंह० : किन्तु महामात्य की अपनी दंडपाशिक सेना तो पीछे आ ही रही है। हमने महामात्य को आदेश दिया था कि कोणार्क के उद्घाटन पर राज्य का संपूर्ण वैभव प्रदर्शित किया जाय।

विशु : महाराज की कला-मर्मज्ञता मुझे विह्वल किये दे रही है।

नरसिंह० : विह्वल हम हो रहे हैं विशु ! यहाँ से तीन कोस पर मंदिर की गगनचुंबी पताका को देख कर हम बालकों की भाँति अधीर हो उठे। उसी समय महामंत्री बोले कि उनके रथ की धुरी टूट गयी है। वे पीछे ठहर गये, किंतु हममें इतना धैर्य कहाँ जो रुक सकते।

सौम्य० : महाराज, मूर्ति-प्रतिष्ठापन तो महामात्य के आने पर ही होगा ? मंदिर के जगमोहन और नट-मंदिर में पुजारी वृंद, और मेरी नृत्य-मंडली प्रस्तुत है।

नरसिंह० : महामात्य को आने दो ! उनके आने में अधिक विलंब न होगा। . . . और इस बीच में हम चाहते हैं कि मूर्ति-वंदना से पूर्व ही हम कोणार्क के निर्माता, अपने प्रधान शिल्पी का, उन्हीं के कक्ष में उचित रीति से समादर करें। . . . (रहस्याधिकारी से)—महेंद्र, लाओ तो वह रत्न-माला ! (रहस्याधिकारी मंजूषा में से भव्य रत्न-माला निकाल कर महाराज को देते हैं।) महाशिल्पी विशु, आगे बढ़ो और यह रत्न-माला हमारे हाथों से अपने—

विशु : ठहरिए देव ! इस रत्न-माला का अधिकारी मैं नहीं हूँ।

नरसिंह० : (विस्मित) विशु, यह तुम्हारी विनम्रता है या हर्ष के अतिरेक से तुम विक्षिप्त हो गये हो ?

विशु : तनिक ठहरें देव ! **(खिड़की के निकट जाकर पुकारता है।)** धर्मपद अंदर आओ ।

महेंद्र० : यह आप क्या कर रहे हैं, महाशिल्पी ?

[धर्मपद का प्रवेश। संकोच और अवरुद्ध भावावेश की भंगिमा]

विशु : देव, इस रत्न-माला का अधिकारी यह युवक है। आज के दिन यही प्रधान शिल्पी है ।

नरसिंह० : **(किंचित तीव्र स्वर)** प्रधान शिल्पी ? हमने प्रधान शिल्पी इस युवक को नहीं, तुम्हें बनाया था, विशु !

विशु : किंतु मैंने आज अपना पद इस युवक को अर्पित कर दिया है।

नरसिंह० : **(और कड़ा स्वर)** तुम अपनी सीमा के बाहर जा रहे हो विशु !

विशु : देव, यदि यह युवक न होता, तो आज हम लोग मूर्ति-प्रतिष्ठापन के लिए प्रस्तुत न होते ।

नरसिंह० : यह कैसी पहेली ?

राजीव : महाराज ने सुना होगा कि मंदिर के ऊपरी भाग—त्रिपटघर को स्थापित करने में बहुत विलंब हुआ था ।

महेंद्र० : **(महाराज से)** देव को यह सूचना मैंने वंग देश में ही दी थी।

नरसिंह० : उससे क्या ? विशु को अनेक भवनों के निर्माण में ऐसी समस्याएँ सुलझानी पड़ी हैं ।

विशु : देव का कथन सत्य है। किंतु इस समस्या ने मेरी प्रतिमा का अपहरण कर लिया था ।

राजीव : चाहे जैसे नाप-जोख करके हम विमान के ऊपर शिलाएँ रखते, वे सब नीचे आ पड़ती थीं। शिल्पीगण निराश हो चले थे और महाशिल्पी विशु अपने स्वप्न को अधूरा देख व्याकुल थे। चारों ओर अंधकार था, चारों ओर उदासी !

विशु : ऐसे समय में पावस की वातास की भाँति तृषित भूमि में यह युवक आ पहुँचा, इसकी अद्वितीय सूझ मेरे लिए आकाशवाणी

बनी, खोये राही का पथ-प्रदर्शन हुआ। और रात-दिन में ही इसके अनवरत परिश्रम और प्रतिभा ने कोणार्क के शिखर को पूरा कर दिया।

नरसिंह० : हम चकित हैं **(धर्मपद से)** युवक ! जब महाशिल्पी विशु तुम्हारा लोहा मानते हैं, तो हम अविश्वास कैसे करें ? इस अल्प वय में ही जो अद्वितीय प्रतिभाशाली हो, ऐसे शिल्पी का हम सहर्ष स्वागत करते हैं।

धर्मपद : यह दास उत्कल-नरेश का अभारी है। यदि मेरी बुद्धि और प्रयास के द्वारा बारह सौ व्यक्तियों —

विशु : **(उसे रोकते हुए)** धर्मपद !

धर्मपद : आचार्य, आपने वचन दिया था कि आज के दिन मुझे आपके सब अधिकार मिलेंगे—

नरसिंह० : उसे कहने दो विशु ! हम उसकी बात सुनना चाहते हैं।

धर्मपद : मैं केवल इतना कह रहा था कि मुझे तो संतोष इस बात पर है कि मेरे कारण बारह सौ शिल्पी अपंग होने से बच गये।

नरसिंह० : युवक, तुम्हारा क्या आशय है ?

सौम्य० : महाराज की आज्ञा थी न कि यदि सात दिन के अंदर कोणार्क पूरा न होगा, तो सारे शिल्पियों के हाथ काट लिये जायँगे ?

नरसिंह० : हमारी आज्ञा ?

विशु : तो यह आपकी आज्ञा नहीं थी ? **(उत्सुक)** कह दीजिए देव, कह दीजिए कि महामात्य राज-राज चालुक्य के शब्द झूठे थे।

महेंद्र० : महामात्य !

नरसिंह० : चालुक्य ने तुमसे कहा ? . . . ओह. . .**(कुछ सोच कर फिर किंचित् हँसते हुए)** उन्होंने शायद तुम्हें यूँ ही धमकी दी होगी। उनका अभिप्राय तुम लोग नहीं समझे।

धर्मपद : अभिप्राय को समझना उन लोगों के लिए कठिन नहीं था

जिनके जीवन पर काले बादलों की छाया की तरह महामंत्री का भय फैला हुआ है।

नरसिंह० : कौन हैं वे ?

धर्मपद : वे ही जो उच्च सम्मिलित स्वर में कुछ ही देर हुए आपकी जय-जयकार कर रहे थे, देव,—वे, अपने को मिटा कर सौंदर्य-मयी दुनिया बनाने वाले शिल्पी और मूर्तिकार।

नरसिंह० : हमें तो उनके स्वर में बहुत उल्लास जान पड़ा।

धर्मपद : देव, झुरमुट की ओट में चहकने वाले पक्षी का स्वर सर्वथा हर्ष-गान ही नहीं होता। आपको क्या मालूम कि उस जय-जयकार के पीछे हा-हाकार चुपचाप **सिसक** रहा था ?

नरसिंह० : युवक, तुम्हारी बातें हमें नयी और अपरिचित-सी जान पड़ती हैं।

धर्मपद : देव, ये उनकी बातें हैं, जो बोल नहीं सकते।

महेंद्र० : युवक, महाराज के सम्मुख शिष्टता से बातें करो।

धर्मपद : मेरी धृष्टता क्षमा करें देव ! मैं साधारण शिल्पी, राज्य-दरबार के नियमों से अपरिचित हूँ। कोणार्क पूरा करते समय मैंने आचार्य विशु से यही पुरस्कार माँगा था कि वे त्रस्त शिल्पी की व्यथाएँ उत्कल-नरेश के सामने मुझे रखने दें।

नरसिंह० : शिल्पी और त्रस्त। सौंदर्य के प्रणेता को क्या पीड़ा है ? हम उसका निवारण करेंगे।

धर्मपद : अगर महाराज का ऐसा ही विचार था, तो कारीगरों को मुद्राओं का पुरस्कार देना क्यों बंद किया गया देव ?

नरसिंह० : **(विस्मित)** मुद्रा देना बंद किया गया ? कब से ?

राजीव : महाराज को नहीं मालूम ! तीन मास से तो यही आज्ञा—

विशु : **(हर्षमिश्रित उत्सुकतापूर्वक)** देव को नहीं मालूम ? सच ! कह दीजिए न देव, कह दीजिए कि महामात्य की यह आज्ञा भी उन्हीं का प्रमाद थी।

महेंद्र० : महामात्य !

नरसिंह० : चालुक्य को यह क्या सूझी ?...रहस्याधिकारी ! कोषाध्यक्ष को आज ही आज्ञा दो कि शिल्पियों को जितनी मुद्राएँ मिलनी हैं, कल ही बाँट दें और इसके अतिरिक्त प्रत्येक को दस-दस सुवर्ण-मुद्राओं का पुरस्कार मूर्ति-प्रतिष्ठापन के उपलक्ष्य में दें।

[महेंद्र का 'जो आज्ञा' कह कर प्रस्थान ।]

धर्मपद : **(सोल्लास)** जय-जय महाराज श्री नरसिंहदेव की जय ! **(विशु और सौम्यश्री इत्यादि के साथ)** जय, जय, यज ।

[नेपथ्य से अनेक स्वरों में 'जय उत्कल-नरेश की जय—जय, जय' ।]

नरसिंह० : जो पत्थर को जीवन-दान दे, उसके जीवन-स्रोत को हम अजस्र देखना चाहते हैं ।

धर्मपद : महाराज के वचन सार्थक हों, यही हमारी भी कामना है ।

नरसिंह० : कामना क्यों ! आज हम कोरी कामना नहीं, पूर्ति का आयोजन कर रहे हैं । युवक, तुम निर्भय हो कर हमारी उन्मुक्त जाह्नवी के भगीरथ बनो ।

धर्मपद : देव, अनेक शिल्पी अपने-अपने ग्रामों में स्त्री-बच्चों को थोड़ी-सी जमीन और खेती के सहारे छोड़ कर आये हैं । वही मूल जीवन-स्रोत सूख रहा है ।

नरसिंह० : क्यों ?

राजीव : राजाज्ञा है न कि वंग देश में सेना भेजने वाले सामंतों को उपहार-स्वरूप यही जमीन दे दी जाय ?

नरसिंह० : यही जमीन ? ऐसी आज्ञा तो हमने कभी नहीं दी ।

विशु : नहीं दी, **(सहर्ष)** मैं कहता था न सौम्यश्री, महाराज शिल्पी के प्रति इतने हृदयहीन हो ही नहीं सकते ।

सौम्य० : तो यह भी महामात्य की ही स्वेच्छा थी ।

नरसिंह० : महामात्य ? जान पड़ता है वंग देश में हमारी लंबी अनुपस्थिति के दिनों में राज-राज चालुक्य बिना सोचे-समझे शिल्पियों से

विरक्त हो गये । हम उनका भ्रम दूर करेंगे । राजधानी लौटने पर शिल्पियों के कुटुंवियों को उनकी जमीन लौटाने की आज्ञा दी जायगी । सामंतों के लिए दूसरा प्रबन्ध किया जायगा ।

विशु : देव ! आपके इस अनुपम अनुग्रह ने आज कोणार्क की शोभा को द्विगुणित कर दिया ।

नरसिंह० : हम नहीं चाहते कि इस सौंदर्य-सदन पर किसी भी कालिमा की छाया रहे ।

धर्मपद : यदि महाराज की यही भावना रही तो भविष्य उज्वल ही रहेगा ।

नरसिंह० : तुम फिर भविष्य की वात कर रहे हो युवक ! हम तो आज ही, अभी, कोणार्क को हर्ष और उल्लास का प्रतीक देखना चाहते हैं ।

धर्मपद : क्षमा करें देव ! न जाने कितनी आहें हमारे इस सौंदर्य-सदन के चरणों और चोटी से टकरा-टकरा कर बिखर रही हैं।

नरसिंह० : किसकी आहें ?

धर्मपद : महामात्य के अत्याचार से प्रपीड़ित जनता की ।

नरसिंह० : शिल्पियों के प्रति उनके भ्रम को हम दूर कर देंगे ।

धर्मपद : किंतु ग्रामों में रहने वाले सैकड़ों-हजारों किसान, वन और अटीविका के शवर और वे अगणित मजदूर, जिनके ढोये हुए पाषाणों को हम शिल्पी रूप देते हैं, देव, वे सभी आज त्राहि-त्राहि कर रहे हैं । यदि वे बोल पाते तो—**(रुक जाता है ।)**

नरसिंह० : तो ?

धर्मपद : तो महाराज से केवल एक वरदान माँगते ।

नरसिंह० : क्या ?

धर्मपद : महामात्य का पद किसी प्रजा-वत्सल महानुभाव को दिया जाय ।

नरसिंह० : युवक, तुम अपनी परिधि के वाहर जा रहे हो ।

धर्मपद : अपराध क्षमा हो, देव !

नरसिंह० : अपने मंत्रियों को नियुक्त करने या निकालने में हम सामंतों और श्रेष्ठियों से सलाह लेंगे, शिल्पियों से नहीं ।

विशु : यही तो मैं इसे समझा रहा था, देव ! शासन के मामलों में पड़ना हम शिल्पियों के लिए अनधिकार चेष्टा होगी ।

नरसिंह० : राज-राज चालुक्य हमारे विश्वस्त महामात्य ही नहीं, हमारे पड़ोसी राज्य से भी संबद्ध हैं । उन्हीं पर भीतरी शासन का भार देकर हम यवनों को पराजित करने के लिए वंग देश तक जा सके । तुम लोग इन बातों को क्या समझो ?

धर्मपद : किंतु प्रजा की अशांति, देव ?

नरसिंह : हम महामात्य को आदेश देंगे कि कोई अनुचित बात न होने दें । राज्य के स्तंभ तो सामंत और श्रेष्ठिगण हैं, किंतु निर्धन प्रजा को सुखी रखने में ही हमारी कीर्ति है ।

सौम्य० : महामात्य को आने में बहुत देर हो रही है देव !

नरसिंह० : हाँ ! रथ की धुरी ठीक होने में इतना विलंब तो नहीं होना चाहिए था । प्रतिहारी !

[नेपथ्य में सत्वर पद-चाप ।]

प्रतिहारी : आज्ञा देव !

नरसिंह० : बाहर जा कर देखो, वे लोग आते दीखते हैं, या नहीं ?

प्रतिहारी : जो आज्ञा **(प्रस्थान)** ।

विशु : देव, रहस्याधिकारीजी आते जान पड़ते हैं ।

[महेंद्र का तीव्र गति से प्रवेश ।]

नरसिंह० : क्या है महेंद्र ?

महेंद्र० : **(चिंतित स्वर में)** महामात्य तो अभी तक नहीं आये देव ! किंतु कुछ लोग आते दीख पड़ते हैं ।

नरसिंह० : वही होंगे । कितनी दूर हैं ?

महेंद्र० : निकट ही । किंतु वे लोग आ रहे हैं । पश्चिम से ही नहीं, उत्तर

और दक्षिण से भी। अनेक रथ और सैनिक। धूल आकाश तक फैल रही है।

नरसिंह० : जान पड़ता है महामात्य ने मांडलिकों और सामंतों को भी आज के समारोह में सम्मिलित होने के लिए बुला रखा है।

महेंद्र० : किंतु इस निमंत्रण को महाराज से गुप्त रखने का आशय ?

नरसिंह० : कौतुक !

महेंद्र० : नहीं देव !

नरसिंह० : तब ?

महेंद्र० : **(रहस्यपूर्ण मुद्रा और गहरा स्वर)** षड्यंत्र !

नरसिंह० : **(चौंक कर)** महेंद्र !

महेंद्र० : सारी दंडपाशिक सेना तो महामात्य के अधिकार में है, देव ! मैंने सभी द्वार बंद करा दिये हैं देव !

नरसिंह : **(आवेश से)** हम अभी सिंह-द्वार पर जा कर स्वयं देखेंगे। तुम्हारा भ्रम है।

महेंद्र० : भ्रम नहीं, देव,. . .वह देखिए !

[बाहर हलचल]

नरसिंह० : प्रतिहारी किसी को पकड़ कर ला रहे हैं।

[कोलाहल। शैवालिक को पकड़े हुए दो-तीन प्रतिहारीगण का प्रवेश। शैवालिक जोर लगा कर अपने को छुड़ाना चाहता है। उसके हाथ में एक पत्र-मंजूषा है।]

शैवालिक : मुझे छोड़ दो, छोड़ दो।

नरसिंह० : कौन ?

महेंद्र० : शैवालिक !!

नरसिंह० : उसे छोड़ दो प्रतिहारी। क्या बात है ?

एक प्रति० : प्रभो, महाषड्यंत्र हुआ है। तीन दिशा से दंडपाशिक मंदिर को घेर रहे हैं।

नरसिंह० : घेर रहे हैं, किसकी आज्ञा से ?

शैवालिक : परम प्रतापी कलिंग-नरेश श्री राज-राज चालुक्य की आज्ञा से।

[सब लोग चौंक उठते हैं।]

नरसिंह० : चालुक्य ! कलिंग-नरेश !!...विश्वासघाती !!

महेंद्र० : स्वयं महाराज के सामने इतनी उद्दंडता। **(खड्ग निकालते हुए)** अभी-अभी तुझे नरक का मार्ग—.

शैवालिक : सावधान ! मुझ पर हाथ चलाने की चेष्टा न करो। मैं दूत के रूप में भेजा गया हूँ। **(पत्र-मंजूषा महाराज को देते हुए)** यह लीजिए, महाराज राज-राज चालुक्य का संदेश, और मुझे उत्तर दीजिए।

[महाराज मंजूषा की मोहर तोड़ कर पत्र निकालते हैं। पत्र पढ़ते समय उनकी मुद्रा महारोषमयी हो जाती है। सब लोग चुप हैं।]

नरसिंह० : **(हाथों से पत्र मसलते हुए)** तो रथ की धुरी इसलिए टूटी थी। इसलिए कि इतने समय में दंडपाशिकों की सेना और मांडलिकों को इकट्ठा कर लिया जाय। राजधानी में...

प्रतिहारी : प्रभो, राजधानी में चालुक्य के दंडनायकों ने पहले ही राज-प्रासाद पर अपना अधिकार जमा लिया है। यही शैवालिक कहता था।

नरसिंह० : तोषालि और कणिका के सामंत ?

शैवालिक : वे सभी हमारे साथ हैं।

नरसिंह० : उफ, नीच पामर ! सब-के-सब विश्वासघाती !

शवालिक : राज्य-सत्ता की भित्ति विश्वास नहीं, बल है।

महेंद्र० : बल ? ...यवन-विजेता पराक्रमी नरेश बलविहीन कब से हो गये।

शैवालिक : यवन-विजेता की सेना कहाँ है ?

नरसिंह० : सेना ! यदि हमें इस दुरभिसंधि का लेशमात्र भी आभास होता, तो हमारी सेना...

शैवालिक : बंग देश में न होती। किंतु अब पछताने से क्या होता है ? आपके सामने एक ही मार्ग है।

नरसिंह० : आत्म-समर्पण ?—कभी नहीं।

शैवालिक : तब आत्म-हत्या।...युद्ध में पराजित हो कर बंदी होना आत्म-हत्या के तुल्य होगा।

विशु : बंदी ! हमारे पूज्य महाराज बंदी हों, यह अनाचार कैसे हो सकता है, कैसे हो सकता है ?

शैवालिक : तुम्हें इन बातों से क्या मतलब ? तुम लोग शिल्पी हो, कल इनके नौकर थे, आज से राज-राज चालुक्य महाराज के। शासन की वागडोर चाहे जिसके हाथ में हो, तुम्हें तो अपनी कला-साधना करनी है।

धर्मपद : **(जो अब तक मूर्तिवत् देखता रहा है।)** बहुत हुआ, बहुत हुआ दूत ! क्या हम लोग भेड़-बकरियाँ हैं, जो चाहे जिसके हवाले कर दी जायँ ? आज ही तो हमारे भाग्य का फैसला है। जिस सिंहासन को तुम आज डाँवाँडोल कर रहे हो, वह हमारे ही तो कंधों पर टिका है। क्या उस पर वह बैठेगा, जिसके कारण सैकड़ों घर उजड़ चुके हैं, वह जिसने कोणार्क के सौंदर्य-निर्माता शिल्पियों को ठीकरों से तुच्छ मान ठुकराया ? कलिंग हमारा है और उसके अधिपति हैं हमारे प्रजा-वत्सल नरेश श्री नरसिंहदेव।

नरसिंह० : शाबाश, धर्मपद !

सौम्य० : धर्मपद, तुम्हारे शब्दों में शिल्पी की आत्मा बोलती है।

शैवालिक : पागलपने का यह प्रलाप सुनने मैं नहीं आया हूँ। मुझे शीघ्र उत्तर मिलना चाहिए।

धर्मपद : **(महाराज की ओर उन्मुख होकर)** देव, मुझे आज्ञा दें कि

इस उद्दंड चुनौती का उचित उत्तर दे दूँ ।

नरसिंह० : युवक, तुम्हारी वाणी ने हमें नयी आशा दी है ! हम मृत्यु पसंद करेंगे, लेकिन उस नीच पामर चालुक्य के आगे घुटने न टेकेंगे।

धर्मपद : (सोल्लास) तो सुनो शैवालिक ! अपने नये स्वामी के पास यह अंगारों-भरा संदेशा ले जाओ कि कलिंग-नरेश श्री नरसिंहदेव महाराज, अत्याचारी विश्वासघातियों की धमकियों की चिंता नहीं करते । वे आज अकेले नहीं हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है, जिससे धरती थर्रा उठेगी; दीन-निर्धन प्रजा की शक्ति, जो कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरों में दुर्दम सेनाओं का बल भर देगी । कोणार्क का मंदिर आज दुर्ग का काम देगा । जाओ, हमें चुनौती स्वीकार है ।

शैवालिक : (जाता हुआ) तो फिर सावधान, रक्त-दान के लिए प्रस्तुत रहिए । मैं जाता हूँ । (प्रस्थान)

विशु : तीनों प्राचीरों के निकट सेना आ गयी है। चौथी ओर समुद्र है । हम लोग कैसे और क्या करेंगे ?

नरसिंह० : कोणार्क की चहारदीवारी के भीतर कुल कितने लोग हैं ?

राजीव : लगभग पाँच हजार । बारह सौ शिल्पी हैं, बाकी अन्य जन-मजदूर इत्यादि ।

धर्मपद : किंतु हथियारों की कमी नहीं ।

महेंद्र० : धनुर्बाण तो कम ही होंगे । और खड्ग ?

राजीव : वे भी इने-गिने ही होंगे ।

धर्मपद : हमारे अस्त्र हैं—कुदाली, दंड, हथौड़े और पत्थर। मंदिर के प्राचीरों से विशाल पाषाणों को अकस्मात् शत्रु के ऊपर गिराया जा सकता है । जब तक प्राचीर हमारे हाथों में है, शत्रु पास नहीं फटकने पायेगा ।

महेंद्र० : किंतु कब तक ?

नरसिंह० : रात्रि के पहले पहर तक ।

महेंद्र० : उसके बाद ?

नरसिंह० : उसके बाद हमारा और तुम्हारा काम है, महेंद्र !

महेंद्र० : दास कटि-बद्ध है स्वामी !

नरसिंह० : रात्रि में किसी तरह छिप कर जगन्नाथपुरी पहुँच जाना है। वहाँ श्रीमंदिर के अधिष्ठाता कभी मेरे विरुद्ध नहीं जा सकते। उनकी सहायता द्वारा अपने गुप्त शस्त्रागार तक पहुँच जाना कठिन नहीं ।...महेंद्र ।

महेंद्र० : समझ गया महाराज ! राजधानी की पौर-सभा को मैं गुप्त सूचना दूँगा । वे गंग वंश के सर्वदा समर्थक रहे हैं ।

नरसिंह० : रात-ही-रात में सब कुछ करना है । रात में युद्ध बंद होगा ही । सवेरे तक शत्रु को घेर लेना है ।

महेंद्र० : किस पथ से जाना होगा ?

धर्मपद : सागर के तट पर मंदिर का जो चौथा द्वार है, वहीं से नौका में बैठ कर देव जा सकते हैं ।

राजीव : थोड़ा ही समय लगेगा, किंतु तट के सहारे-सहारे जाना होगा ।

महेंद्र० : और कोणार्क की रक्षा ?

नरसिंह० : धर्मपद, सम्हाल सकोगे ?

धर्मपद : क्यों नहीं महाराज ! कोणार्क के प्राचीरों के पाषाण सुदृढ़ हैं और उनसे भी अधिक दृढ़ हैं शिल्पियों की भुजाएँ, जो पाषाण में प्राण फूँकती हैं ।

नरसिंह० : दृढ़ता के साथ कौशल भी चाहिए ।

महेंद्र० : समय कम है ।

धर्मपद : चिंता न करें, देव ।...आर्य राजीव, जैसे भी हो, हमें शत्रु को रात के पहले पहर तक रोकना है। आप प्रहरियों से धनुर्बाण लेकर अटीविका से आये शिल्पियों में बाँट दीजिए । उनका निशाना सधा हुआ है ।

राजीव : अवश्य, और अभी ! (जाता है ।)

धर्मपद : और आप (दूसरे शिल्पी से) भास्कर जी !

भास्कर : प्राचीर पर के पाषाण-खंडों का जिम्मा मैं लेता हूँ ।

[प्रस्थान ।]

धर्मपद : ये चारों प्रतिहारीगण, सिंह-द्वार पर शिल्पियों के साथ व्यूह की रचना करेंगे । (प्रतिहारियों का प्रस्थान ।) मैं शीघ्र बाहर जाकर शिल्पियों और मजदूरों को टोलियों में बाँटता हूँ । (तीसरे शिल्पी से) गजाधरजी, आप अस्त्रों को एकत्र करें ।

गजाधर : मैं अभी जाता हूँ । (प्रस्थान)

धर्मपद : और आर्य सौम्यश्री, आप ?

सौम्य० : मुझे केवल नाट्याचार्य न समझो, धर्मपद !

धर्मपद : आर्य, आप आचार्य विशु के साथ नृत्य-मंडली की सहायता से घायलों की शुश्रूषा का भार लें ।

नरसिंह० : और तुम धर्मपद ?

धर्मपद : आज्ञा हो, तो मैं नट-मंदिर की छत से निर्देशन करता रहूँगा ।

नरसिंह० : शत्रु के बाण उधर ही आयेंगे ।

धर्मपद : उसके लिए प्रस्तुत हूँ महाराज !

नरसिंह० : धर्मपद, आचार्य विशु ने तुम्हें आज महाशिल्पी का पद दिया । हम तुम्हें कोणार्क का दुर्गपति बनाते हैं ।

धर्मपद : इस अकिंचन पर कलिंग-नरेश का अपार अनुग्रह है ।

नरसिंह० : नहीं, हम तुम्हारे अदम्य साहस और उससे भी अधिक संगटन-दक्षता देख कर विस्मित हैं । तुमने यवन-विजेता उत्कल-नरेश को अपने वश कर लिया ।

धर्मपद : तब महाराज, आपको दुर्गपति का आदेश मानना होगा ।

नरसिंह० : क्यों नहीं ।

धर्मपद : तो देव, मेरा आग्रह है कि आप मंदिर के पिछले भाग में ही रहें । वह सुरक्षित स्थान है । यदि आपका बाल भी बाँका हुआ,

तो सारी योजना ही निष्फल हो जायेगी ।

नरसिंह० : रात्रि के प्रथम पहर तक हमने अपने को तुम्हारे हाथों सौंप दिया है । उस समय तक तुम्हीं हमारे निर्देशक हो, तुम्हीं हमारे सेनापति !

धर्मपद : निर्देशक मैं नहीं हूँ, देव !

महेंद्र० : (साश्चर्य) धर्मपद !

धर्मपद : हमारे निर्देशक, हमारे सेनापति बाहर खड़े हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

नरसिंह० : कौन ?

धर्मपद : वे सौंदर्य के विधाता हजारों शिल्पी, जिनकी आत्मा की तड़पन ही कलिंग-नरेश का अमोघ वज्र है, जिनकी सुकोमल भाव-तरंगों को अत्याचारी की ठोकर ने आज महारोष का उत्ताल सागर बना दिया है ।

[बाहर कोलाहल और जयनाद]

नरसिंह० : नरसिंहदेव इस महाशक्ति के आगे नतमस्तक है ।

धर्मपद : तो चलें, देव ! युद्ध से पहले इस प्रचंड भैरवी का अवलोकन करें ।...चलिए !

[नरसिंहदेव और महेंद्र का धर्मपद के पीछे-पीछे जाना । नेपथ्य से गगनव्यापी तुमुल निनाद की भाँति हज़ारों कंठों से निकलता हुआ जय-निघोष कर्णगोचर होता है—"जय, जय, कलिंग-नरेश की जय ! जय, जय, कोणार्क दुर्ग की जय !! जय, जय, जय !!"

विशु मूर्तिवत् खड़ा सुन रहा है, सुन नहीं पाता । देख रहा है, देख नहीं पाता । सौम्यश्री उसका हाथ पकड़ता है ।

जय-जयकार करता हुआ जन-समूह दूर जाता जान पड़ता है—स्वर मंद हो गया है ।]

सौम्य० : चलो विशु !

विशु : सौमू, मेरे कोणार्क के प्रांगण में यह विभीषिका ?

सौम्य० : तुम उद्विग्न हो उठे विशु ?

विशु : (विचार-मग्न) उद्विग्न, भी, और...और...उत्सुक भी।

सौम्य० : उत्सुक ?...किसलिए ?

विशु : मैं जानना चाहता हूँ, सौमू, कि...(कुछ रुक कर धीरे-धीरे) कि यह धर्मपद कौन है ? ... (हठात् तीव्र स्वर) कौन है ! ...(मंद विवश स्वर) कौन है ?

[पटाक्षेप]

उपकथन

[वही झीना अन्धकार। वही विराट् नेपथ्य-संगीत, किंतु पहले की अपेक्षा अधिक हलचलपूर्ण ; मानो शिव का प्रलयंकर तांडव-राग हो ! थोड़ी देर बाद हठात् पूर्ण मौन। सूत्रधार और वाचिकाओं पर मंद प्रकाश।]

पहली वाचिका

जूझते मेघों का गर्जन
भयंकर बिजली की तड़पन
रुधिर का उछला पारावार !

[पुनः वही प्रलयंकर संगीत एक साथ उमड़ कर शांत हो जाता है। उसके बाद—]

दूसरी वाचिका

यही क्या सतरंगी कोणार्क—
कला का इंद्रधनुष निर्वाक—
वज्र-सा अब करता टंकार ?

[अत्यंत मंद और बारीक स्वर में शिथिल-सा संगीत थोड़ा उभर कर विलीन हो जाता है।]

पहली वाचिका

लेकिन यह क्या ?—
अरे क्यों सहमी-सी हलचल ?
क्लांत-सा क्यों है कोलाहल ?
मौन होगा क्या अब संहार ?

दूसरी वाचिका

नहीं, केवल थोड़ा विश्राम !
रात भर का है युद्ध-विराम ।
झपकियाँ लेते हैं अंगार ।

पहली वाचिका

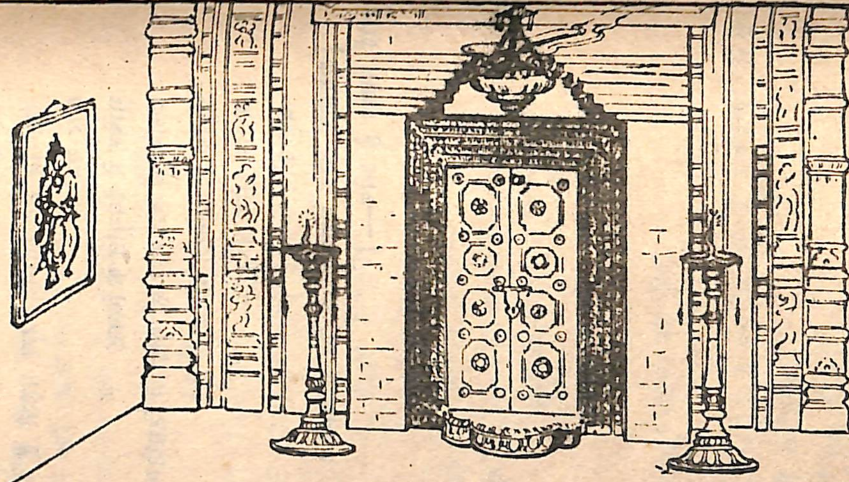
तब तो ?–
निशा के परदे में अज्ञात—
कहाँ है उत्कलपति का प्रात ?
तुमुलध्वनि में आशा-झंकार ?

सूत्रधार

वहीं—
जहाँ सागर-तटवर्ती लहरों को चीर
एक नौका
पुरी नगरी की ओर तेजी से चली जा रही है, चली जा रही है।
उसी में बैठे हैं नरसिंहदेव,
जिन्हें घमासान युद्ध के बीच,
मंदिर के पीछे सुरक्षित नौका में आरोहित कर
धर्मपद और उसके साथियों ने
अपना वचन पूरा किया ।
अब सूर्योदय तक पुरी से सेना ला कर
चालुक्य के पड़ाव पर आक्रमण करना है उन्हें

इस समय कोणार्क में शांति है, पर
स्तब्ध सरोवर को चंचल करने वाले ,पतित पल्लवों की भाँति
जब-तब मंद ध्वनियाँ सुन पड़ती हैं ।
और यहाँ—
मंदिर में देवमूर्ति के निकट
म्लानमुख अन्धकार की गोदी में टिमटिमाते
दीपक के प्रकाश में—
अधीर और आतुर—
यह कौन खड़ा है ?

[सूत्रधार और बालिकाओं का प्रस्थान । मंद करुण वाद्य-संगीत सुनाई पड़ता है और—]



मंदिर के गर्भ-गृह से सटा हुआ अन्तराल

तृतीय अंक

[मंदिर के गर्भ-गृह से सटा हुआ अंतराल। समय—रात्रि का दूसरा प्रहर। गर्भ-गृह के कपाट ठीक बीच में हैं और बंद हैं; दीपक के मंद प्रकाश में बायीं ओर स्तंभ के निकट एक मूर्ति की ओर निर्निमेष देखता हुआ विशु दीखता है। त्रस्त और अधीर मुद्रा। एक मुट्ठी बँधी है। कंधे पर उत्तरीय।

[थोड़ी देर में दायीं ओर से सौम्यश्री का प्रवेश।]

सौम्य० : तुमने कहा था, विशु, कि मैं नाट्याचार्य, भगवान् शंकर का संहारक रूप धर सकता हूँ। वह तो नहीं कर पाया, लेकिन भगवान् शंकर वैद्यनाथ भी तो हैं। पट्टियाँ बाँधना और औषधियाँ देना! ...कुछ घायल तो बच ही जायेंगे।

विशु : (मूर्ति की ओर टकटकी; सौम्यश्री की ओर पीठ। गंभीर स्वर में) वह कैसा है?

सौम्य० : कौन? धर्मा? गजब का पराक्रम दिखाया उसने। क्या अतुल संगठन-शक्ति, क्या स्फूर्ति! एक-एक शिल्पी उसे देख कर पाँच-पाँच सैनिकों के तुल्य हो गया!

विशु : (उसी भाँति) वह कैसा है ?

सौम्य० : उसकी मूर्च्छा ? उसका मूर्च्छित होना था कि शिल्पियों मे बिजली दौड़ गयी। दुगुनी शक्ति से हमारे मुट्ठी भर लोग जूझ पड़े, और चालुक्य के पारावार को थमना पड़ा।

विशु : (उसी भाँति) वह सब मैंने देखा था।...लेकिन अब वह कैसा है ?

सौम्य० : कैसा है ?...तुम तो उसके मूर्च्छित होने के थोड़ी देर बाद ही चले आये थे। जान पड़ता है, उसका शरीर चोट और आघात सहने का आदी है। माँ-बाप ने उससे बहुत कसरतें करायी होंगी !—

विशु : (सावेश तेज स्वर) सौमू, मेरे प्रश्न का उत्तर दो ! ... वह कैसा है ?

सौम्य० : (साश्चर्य) विशु !! क्या हुआ तुम्हें ?...(निकट जाकर) और...और मेरी प्रतिमा के निकट इस तरह मुट्ठी बाँधे तुम क्यों खड़े हो ?

विशु : (घूमकर मुट्ठी खोलता है।) देखो !

सौम्य० : हाथीदाँत का कंकण ! ... (करीब आकर गौर से देखता हुआ) अरे ! ठीक वही आकृति, ठीक वही छवि—

विशु : जो मैंने तुम्हारी मूर्ति के कंठहार में अंकित की है।

सौम्य० : कहाँ मिली तुम्हें ?

विशु : धर्मपद के गले से गिरी थी, जब वह मूर्च्छित हुआ।

सौम्य० : (अविश्वास के स्वर में) धर्मपद के गले से ? ...धर्मपद ...यानी धर्मपद—

विशु : (हठात् विह्वल स्वर में, मानो बाँध टूटा हो) बताओ सौमू, वह कैसा है ? बताओ !

सौम्य० : विशु, स्थिर होओ !

विशु : स्थिर होऊँ ? . . . तुम नहीं समझोगे, बंधु ! बताओ, बताओ, —क्या उसकी मूर्च्छा दूर हुई ?

सौम्य० : मूर्च्छा दूर हो गयी। रक्त बहना भी बन्द हो गया। अब तो वह पुनः युद्ध के लिए तैयार है।

विशु : पुनः युद्ध ? रोको सौमू, उसे रोको !

सौम्य० : शांत, विशु ! . . .रात में तो युद्ध बंद रहेगा, और कल सवेरे तक निश्चय ही जगन्नाथपुरी से महाराज के अश्वारोही दल आ पहुँचेंगे ! . . .किंतु विशु मुझे तुम्हारी चिंता है !

विशु : मेरी चिंता ? . . . बरसों की खोयी निधि पा रहा हूँ, सौमू ?

सौम्य० : अपनी बेताबी से उसी निधि को पुनः खो न देना।

विशु : सौमू कैसे उसे बताऊँगा ? मुझे तो वह जानता नहीं, पर जान लेने पर क्या सोचेगा वह ? . . . शायद. . .शायद. . . (**विकल मुद्रा**) ओह, सौमू ! ! बरसों गुफा के अँधेरे के बाद यह बेदर्द उजाला क्या मुझे अंधा बना कर रहेगा ?

सौम्य० : (**नेपथ्य में पदचाप सुन कर**) विशु, शायद वही आ रहा है। तुम थोड़ी देर के लिए स्तंभ की ओट में चले जाओ।

विशु : क्या वह मेरा मुख भी देखना चाहेगा ?

सौम्य० : मेरे ऊपर छोड़ो वह बात। जब आवाज दूँ तो आ जाना।

[विशु बायीं ओर को चला जाता है। सौम्यश्री अपनी प्रतिमा के निकट खड़ा हो जाता है। धर्मपद का प्रवेश। माथे पर पट्टी ।]

धर्मपद : सैकड़ों शिल्पी मारे गये। जो घायल हैं, उनकी शुश्रूषा तो आपके नटों, गायकों और देवदासियों ने खूब की, नाट्याचार्य ! किंतु जो थके-हारे हैं—

सौम्य० : रात का विश्राम ही उनकी संजीवनी है। रात में युद्ध तो होगा नहीं।

धर्मपद : लेकिन हमें सावधान रहना है। ...अगर कोई मंदिर की प्राचीरों पर निगाह रख सकता—

सौम्य० : मेरे नट और वादक-गायक यह काम करेंगे धर्मपद ! वे तो नहीं थके हैं !

धर्मपद : अनुगृहीत हूँ, तात सौम्यश्री। ...केवल निगाह रखनी है, और कोई बात हो तो मुझे तुरंत सूचित करना है। सूर्योदय तक—

सौम्य० : सूर्योदय तक महाराज के अश्वारोही चालुक्य के दल पर पीछे से आक्रमण कर देंगे।

धर्मपद : और इधर से हम मुट्ठी भर शिल्पी भी पुनः प्रहार करेंगे।

सौम्य० : मुट्ठी भर शिल्पियों के प्राण तो तुम हो धर्मपद ! मूर्च्छा के बाद तुम्हें भी विश्राम करना चाहिए था।

धर्मपद : मुझे विश्राम की जरूरत नहीं है, नाट्याचार्य !

सौम्य० : फिर कहता हूँ—रात्रि का विश्राम ही संजीवनी बूटी है।

धर्मपद : यदि मेरे पास इससे भी अधिक शक्तिवर्धक संजीवनी हो तो !

सौम्य० : वह क्या ?

धर्मपद : यह देखिए।

[वस्त्र के नीचे हाथ से टटोलता है।]

सौम्य० : देखूँ ?

धर्मपद : (चिंतित मुद्रा। बार-बार अपने वक्ष और गरदन टटोलता हुआ) अरे ! मेरा कंठ-हार कहाँ लोप हो गया ?..सदा यहीं अपने वस्त्र के नीचे ही तो रखता हूँ मैं। ...आचार्य सौम्यश्री, आपने तो—

सौम्य० : मैंने तो नहीं, पर इधर देखो, मेरी मूर्ति के कंठ में एक हार है। (प्रतिमा पर अंकित हार को दिखाता है।)

धर्मपद : (दूर से देखते ही) अरे, प्रतिमा के गले में यह कैसे पहुँचा ? (तेजी से निकट जा कर स्पर्श करता है।) किंतु...किंतु यह तो पत्थर पर अंकित है। ...यह कैसी मरीचिका !...

वही ठीक वैसा ही अंकन, वही बिल्कुल वही, कामदेव की आकृति ! नाट्याचार्य, यह कैसी पहेली ?

सौम्य० : यह पहेली तो मूर्तिकार ही सुलझायेगा ।

धर्मपद : कौन ?

सौम्य० : आचार्य विशु से पूछो । (पुकारता हुआ) विशु !

[विशु का प्रवेश ।]

विशु : धर्मपद ! इस मूर्ति का कंठ-हार मैंने ही अंकित किया है और (मुट्ठी खोलता हुआ) हाथीदाँत के इस कंकण का शिल्पी भी मैं ही हूँ ।

धर्मपद : आप ? (विशु धर्मपद को हार पकड़ाता है ।) असंभव आचार्य! यह कंकण तो मुझे मेरी माँ ने दिया था ।

विशु : (तीव्र भावावेश को रोकता हुआ) कहाँ है तुम्हारी माँ, धर्मपद ?

धर्मपद : मेरी माँ ! आचार्य, मेरी माँ तो अब नहीं है। (मर्माहत हो विशु पीछे को हट कर पीठ मोड़ कर खड़ा हो जाता है ।)

सौम्य० : (विशु के निकट जाकर भर्त्सनापूर्ण किंतु मंद स्वर में) विशु !

धर्मपद : तभी उसके दिए हुए उपहार को हृदय से लगाये फिरता हूँ । (माला को चाव से अपने गले में डालते हुए) मृत्यु से पहले उसने मुझे यह पकड़ाया और कहा कि मेरे पिता की देन है ।

विशु : (उन्मद स्वर) पिता, पिता !

धर्मपद : जिस पिता की बात उसने कभी पहले मुझसे न छेड़ी थी, पहली बार और अंतिम बार तभी उसका नाम लिया था मेरी माँ ने !

विशु : (उसी तरह पीठ किये हुए आविष्ट स्वर में) पहली और अंतिम बार !

धर्मपद : (अनसुनी करके ऐसे स्वर में मानो अनायास ही कोई कहानी

याद आयी हो।) कैसी अद्भुत थी मेरी माँ !...आँधियों के निर्दय झकोर से भी न झुकने वाले ताल-वृक्ष की तरह। मुझे गोदी में लिये, बहुत पहले, जब वह नगर में आयी थी, तो कौन उसका सहायक था ? मजदूरी करके, गरीबी के कष्ट और वैभव के अपमान सह कर, उसने मुझे पाला।

सौम्य० : याद है तुम्हें, कहाँ से तुम लोग नगर में आये थे ?

धर्मपद : शवर अटीविका से।...माँ ने बहुत कुछ बताया, पर सब कुछ नहीं। उसने मुझे शक्ति दी, जिसके बल पर नन्हा बीज धरती को फोड़ कर नये जीवन का प्रतीक बनता है। उसने मुझे आंचल से ढका भी और छुड़ाया भी। उसकी ओजमयी वाणी मेरे कानों में गूंज रही है।—आप लोग सुन पाते हैं ?

विशु : (रुंधे कंठ से) मैं सुन पा रहा हूँ। (मुड़ कर धर्मपद के निकट आता हुआ) ...मैं सुन पा रहा हूँ !

धर्मपद : आचार्य विशु !

विशु : (धर्मपद के हाथ को अपने चेहरे में दबाता हुआ व्यथित और रुदनपूर्ण स्वर में) धर्मा, मेरे बच्चे, मेरे बेटे ! (रुदन)

धर्मपद : (अपना हाथ खींचते हुए) आप रो रहे हैं, आचार्य !

सौम्य० : धर्मपद, तुम सारिका के पुत्र हो ?

धर्मपद : आपको मेरी माँ का नाम कैसे मालूम हुआ।

सौम्य० : धर्म, आचार्य विशु ही तुम्हारे पिता हैं।

धर्मपद : क्या ?...'आचार्य, मेरे पिता।...मेरे पिता !!...पर... (जैसे कुछ याद आया हो) मेरे पिता का नाम तो...।

विशु : तुम्हारे पिता का नाम था श्रीधर ?

धर्मपद : हाँ, हाँ, यही नाम मेरी माँ ने बताया था।

(विशु कुछ हट कर चौकी पर बैठ जाता है।)

विशु : वह अभागा श्रीधर मैं ही हूँ।...विशु तो मेरा छद्म नाम है, जो मैंने शवर अटीविका से भाग आने पर रख लिया था।

मैं ही वह श्रीधर हूँ, जिसके कारण तुम्हारी माँ को इतने कष्ट उठाने पड़े। मैं ही वह कठोर, पापी, निर्दय तुम्हारा पिता हूँ, जिसने. . . (अपने चेहरे पर हाथ रख लेता है।)

धर्मपद : (विशु के निकट जा कर मंद स्वर में) आचार्य ?

विशु : (हल्के स्वर में) मुझे पिता कहो, धर्मा !

धर्मपद : पिता ! (विशु के चरणों के पास धरती पर बैठता हुआ चाव भरे स्वर में) क्या आपको मेरी माँ की याद आती है?

विशु : बीस बरह से उस याद के ही बल पर जी रहा हूँ !

[दबे पाँव सौम्यश्री चुपचाप बाहर चला जाता है, मानो पिता और पुत्र के इस अनिर्वचनीय मिलन-दृश्य में विघ्न न डालना चाहता हो।]

धर्मपद : मेरी माँ के मन में भी भीतरी काँटे की तरह शायद आपकी याद गड़ी रही।

विशु : (जिज्ञासापूर्ण स्वर) क्या सच वह मुझसे रुष्ट नहीं ? क्या तुमसे भी उसने कहा ?

धर्मपद : नहीं। रुष्ट कभी नहीं रही और न मुझे कभी बताया। मैं वह सब कुछ नहीं जानता और न जानना चाहता हूँ।

विशु : मुझे क्षमा कर सकोगे पुत्र ?

धर्मपद : आर्य, मेरी आँखों के सामने जो परदा पड़ा है, उसे उठाइए नहीं। उस पर मेरी माँ की मधुर, गंभीर, दर्द भरी मूर्ति दीख रही है। . . .और वहाँ मानो सूरज की अंतिम किरणें पड़ रही हैं। किरणों के बीच माँ कैसी भली दीख पड़ती है ! . . . ये किरणें किधर से आती हैं आर्य ? आप जानते हैं ?

विशु : (कुछ समझते हुए, कुछ रूँधे स्वर से) वे किरणें तुम्हारी माँ के तन से ही फूट रही हैं, धर्मा ! मैंने भी इन्हें देखा है।

धर्मपद : कब ?

विशु : (उठ कर घूमते हुए) मंदिरों का निर्माण करते-करते कभी-

कभी सहसा मेरी आँखों के आगे अँधेरा छा जाता था। उस अँधेरे में न तो मैं मूर्तियाँ गढ़ सकता था न आकार-प्रकार निश्चित कर पाता था, न पत्थरों को जीवित कर सकता था। तभी तुम्हारी माँ की मनोरम और तेजस्वी मूर्ति की झलक मिलती और उन किरणों से मुझे प्रकाश मिलता !

धर्मपद : ठीक वही किरणें, ठीक वही आलोक !

विशु : हाँ पुत्र ! और अब मानो कोणार्क के अधूरे शिखर पर मेरे अरमानों को छिन्न होता हुआ देख उसने मुझे राह दिखाने के लिए तुम्हें भेजा।

धर्मपद : जाने किस अदृश्य शक्ति ने मुझे शिल्प-कला सिखा दी !

विशु : तुम शिल्पी विशु के पुत्र हो, धर्मा ! कोणार्क और किसी के स्पर्श से कैसे जग सकता था ? जैसे मरुस्थल में कहीं निर्झरिणी साहसा गायब हो जाने पर भी अन्यत्र वह निकलती है, वैसे ही मेरी भटकी हुई प्रतिभा तुम्हारे मन में विकस उठी धर्मा ! सैकड़ों, हजारों बरसों तक कोणार्क के उन्नत शिखर को देख कर लोग कहेंगे कि यह विशु और उसके बेटे की कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है। मेरे जैसा भाग्यशाली पिता आज उत्कल में और कौन है ?

धर्मपद : संध्या की किरणें सिमिट रही हैं आर्य ! लगता है, जैसे माँ बुलाती हो।

विशु : नहीं धर्मपद, हम उसे बुलायेंगे।...क्या तुम्हारी माँ कल भी नहीं आयेगी ? कल जब कोणार्क और कलिंग के ऊपर से बादल हट जायेंगे। कल हमारे महाराज नरसिंहदेव विजयी होंगे और फिर कोणार्क के प्रांगण में मेरा और तुम्हारा—पिता और पुत्र का—अद्वितीय अभिवादन होगा।

धर्मपद : विजय का अभिवादन ?

विशु : (तन्मय) कैसा अपूर्व क्षण होगा वह ! मेरी सारी साधना

फलीभूत होकर आह्लाद और उन्माद में विलय हो जायगी, धरती और अंबर मेरे उल्लास को सँभाल न सकेंगे, कोणार्क का प्रत्येक पत्थर अनन्य रागिनी को प्रतिध्वनित करेगा और शिल्पी के गौरव के आगे सारे संसार की समृद्धि नतमस्तक होगी . . . ।

[इस बीच में बाहर तेजी से आते हुए कदमों की आवाज आती है । सौम्यश्री का बहुत घबड़ायी हुई अवस्था में प्रवेश ।]

सौम्य० : विशु, धर्मपद ! गजब हो गया ! हम लोगों का किया-कराया सब मिट्टी हो रहा है . . .

विशु : **(जो अभी तक आह्लाद की मुद्रा में है ।)** ठहरो, मेरा स्वप्न भंग न करो . . . ।

सौम्य० : स्वप्न ? स्वप्न छोड़ो ! हम लोग महाविपत्ति में हैं ।

धर्मपद : क्या हुआ आर्य ?

सौम्य० : मंदिर के दक्षिण प्राचीर के एक अंश में शत्रु के एक छोटे दल ने चुपचाप रास्ता बना लिया है । मैं नर्तकों को लेकर उधर जा रहा था कि देखा शत्रुओं का एक दल अंदर घुस रहा है । दौड़ कर राजीव को समाचार दिया ।. . .लेकिन मुट्ठी भर थके-हारे शिल्पी कैसे रोकेंगे इन आतताइयों को ?

धर्मपद : **(उठ कर)** यही आशंका थी मुझे ! कुचक्री चालुक्य रात्रि के युद्ध-निषेध को भला क्यों मानता ?

विशु : अब क्या होगा ? क्या होगा सौमू ?

सौम्य० : महाविनाश का आह्वान !

विशु : सौमू, उसे रोको !—धर्मा को रोको !

धर्मपद : मुझे रोकने की चेष्टा न कीजिए, आर्य ! मुझे संध्या की वे ही किरणें बुला रही हैं । लेकिन सुनिए ! एक बार अधिकार कर लेने पर चालुक्य की शक्ति को कोई नहीं रोक

सकता। महाराज नरसिंहदेव की चेष्टाएँ विफल हो जायँगी। सवेरे ही चालुक्य पुरी के लिए कूच कर देगा। और फिर उस अत्याचारी के आगे कोई नहीं ठहर सकेगा, कोई नहीं। **(कोने में रखे हुए भाले को उठाता है। विशु और सौम्यश्री की ओर पीठ।)**

सौम्य० : विशु, सुना तुमने ? **(दूर पर थोड़ा कोलाहल)**

विशु : सौमू ! मेरे बंधु ! क्या किसी तरह धर्मा को बचाया नहीं जा सकता ? मैं चालुक्य के आगे भीख माँगूगा, मेरे बेटे के प्राण...।

धर्मपद : **(मर्माहत हो कोने में से ही बोलता है। चेहरा तमतमा रहा है।)** आप मेरा अपमान कर रहे हैं।

सौम्य० : पिता की ममता का यों तिरस्कार न करो, धर्मपद !...

धर्मपद : ममता ! **(बाहर पुनः कोलाहल)** वह सुनिए, मृत्यु की फैलती छाया में अत्याचारी से जूझनेवाले वीरों की पुकार सुनिए ! क्या मैं उसे अनसुनी कर दूँ ? उन्हें मेरी जरूरत है। शीतल होती हुई यज्ञ की अग्नि में एक बार फिर से आहुति की आवश्यकता है, शायद वह अन्तिम आहुति हो। **(चलने को उद्यत)**

विशु : **(आर्त्त स्वर में)** तुम जा रहे हो पुत्र ?

धर्मपद : हाँ, मैं जा रहा हूँ। जिस नीच से आप भीख माँगते, मैं उसे भीख दूँगा, अपने प्राणों की भीख। तात ! मैं जानता हूँ—आप कायर नहीं हैं; पर मेरा मोह आपको दुर्बल बना रहा है। तात, जाते-जाते आपको याद दिलाऊँ कि आप पिता होने के पूर्व शिल्पी हैं, कारीगर हैं ! ...आज शिल्पी पर अत्याचार का प्रहार हो रहा है। कला पर मदांधता टूट पड़ी है। सौंदर्य को सत्ता पैरों के तले रौंद रही है। और कोणार्क—आपका सुनहरा सपना, जिस घोंसले में आपके अरमानों का पंछी बसेरा लेने जा रहा था—वही कोणार्क, एक पामर, अत्याचारी के हाथ का खिलौना बन जायगा। आतंक के हाथों में जकड़ी

हुई कला सिसकेगी। वही कारीगर की सबसे बड़ी हार होगी, सबसे भारी हार। **(प्रस्थान, कुछ देर शांति)**

सौम्य० : **(कंधे पर हाथ रखते हुए)** विशु ! विशु !

विशु : **(हत्‌बुद्धि-सा)** कारीगर की हार ! कोणार्क आतंकी के हाथ का खिलौना !

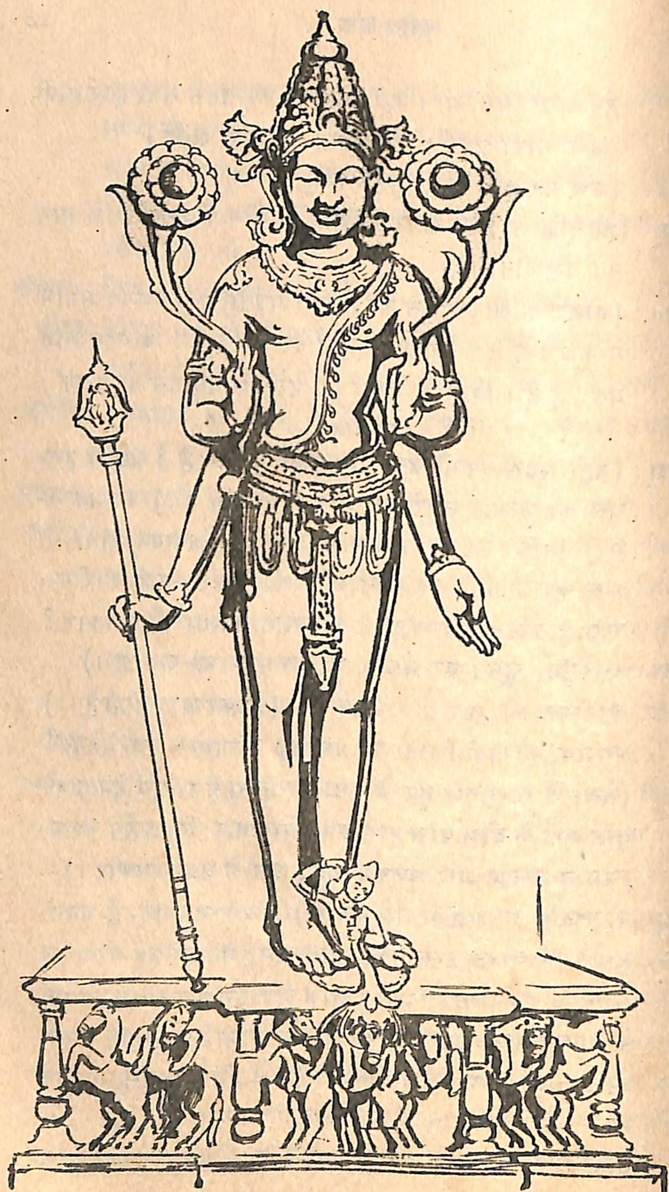
सौम्य० : **(बाहर कोलाहल सुन कर)** जान पड़ता है—धर्मपद संग्राम में कूद पड़ा है। लेकिन कितनी देर के लिए ! वे लोग आगे बढ़ रहे हैं। विशु, मैं जाता हूँ। देखूँ, शायद उसे बचा सकूँ।

[प्रस्थान]

विशु : **(वहीं मुद्रा—कभी बैठता है, कभी घूमता है। बाहरी हल-चल की उन्मत्त लहरें उसे छू नहीं पा रहीं हैं।)** कोणार्क—मेरी निधि. . . कोणार्क—मेरी सृष्टि—अपावन हाथों में, भ्रष्ट हाथों में ? यह कैसा अभिशाप ! ओ अभागे कारीगर, कहाँ है तेरा गौरव, कहाँ है तेरी मौन तपस्या का पुरस्कार ? —**(पुनः चुप। दूर नेपथ्य में कोलाहल बढ़ रहा है।)**. . . कारीगर की हार ! . . .ऐं. . . **(उठकर खड़ा होता है।)** असंभव, कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं रहेगा !

विशु : **(तेजी के साथ गर्भ-गृह के कपाट खोलता है। सूर्य देवता की मूर्ति कक्ष के बीच पाँच हाथ ऊपर निराधार स्थित है। जाज्वल्यमान् मस्तक और मुकुट। बाकी कक्ष में घना अंधकार।)**

विशु : **(साष्टांग अवस्था में रुँधे गले से)** हे सूर्य भगवान्, हे भुवन-भास्कर ! बारह बरस तक दत्तचित्त हो मैंने तुम्हारे योग्य यह अभूतपूर्व गृह तैयार किया। आज जब उस लगन और तपस्या के बाद तुम्हारी उपासना का अवसर आया, तो तुम्हारे शिल्पी को ठुकराने वाले, उनके निर्दोष रक्त से रँगे हाथ तुम्हें अपनाने आ रहे हैं। भगवान् मैं यह कैसे सह सकता हूँ ? तुम, मेरे, सारे जगत् के, प्रतिपालक हो; पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि



सूर्य भगवान् की मूर्ति
(कोणार्क के ध्वंसावशेषों में प्राप्त प्रतिमा के आधार पर)

मैं तुम्हारा निर्माता हूँ। (मस्तक उठाता है। हमें उसके चेहरे का पार्श्व अंश ही दीखता है।) तुम मेरे देव हो ! तुम्हें मेरा कहा करना होगा। (उठते हुए) कोणार्क शिल्पी की पराजय का प्रतीक नहीं हो सकता। मैं और तुम मिल कर ऐसा नहीं होने देंगे।...नहीं !! (खड़ा हो जाता है।) ठीक है न मेरे भगवान् ?

[मूर्ति की आभा द्विगुणित जान पड़ती है। प्रकाश की एक किरण विशु के चेहरे पर भी पड़ती है। उसकी आँखें मूर्ति पर गड़ी हैं। और फिर मानो प्रतिमा का आह्वान पा कर वह आगे बढ़ता है—पास रखी हुई कुदाली को हाथ में ले गर्भ-गृह में प्रवेश कर क पाटको अंदर से बंद कर लेता है। प्रतिमा की ज्योति तिरोहित हो जाने से अंतराल में अब पहले की भाँति हल्का-हल्का प्रकाश है। बाहर कोलाहल बढ़ रहा है। पद-चाप निकट आ रहे हैं। कुछ समय तक मंच खाली रहता है। थोड़ी देर बाद कुछ सैनिकों के साथ राज-राज चालुक्य शैवालिक और अन्य सैनिकों का प्रवेश। सैनिक सौम्यश्री को पकड़े हुए हैं।]

चालुक्य : यहाँ भी नहीं। कहाँ है नरसिंहदेव ? कहाँ है विशु ?

शैवालिक : सौम्यश्री तुम झूठ बोल रहे थे ?

सौम्य० : यहीं तो विशु को छोड़ कर गया था। देखिए वह उत्तरीय।

[चौकी की ओर इशारा करता है।]

चालुक्य : और नरसिंहदेव ?

सौम्य० : मुझे नहीं मालूम।

चालुक्य : देखता हूँ तुम भी उसी राह पर जाना चाहते हो, जिस पर उस उद्दण्ड धर्म को भेजा गया है। उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके इसी क्षण समुद्र में फेंके जा रहे हैं, जानते हो ?

[गर्भ-गृह के अंदर पत्थर पर एक चोट पड़ने की आवाज।]

शैवालिक : सुनिये देव ! अन्दर कोई है। (कपाट खोलने की चेष्टा करता है।)

सौम्य० : (उच्च स्वर में) विशु !

चालुक्य : कपाट तोड़ दो।

सौम्य० : ठहरिए (उच्च स्वर में) विशु, विशु ! कपाट खोल दो !

विशु की आवाज : सौमू, मैं कपाट नहीं खोल सकता।

सौम्य० : तुम कहाँ हो विशु ?

विशु : बहुत ऊपर चुंबक के पास ! (पत्थर पर चोट)

सौम्य० : विशु, तुम चुंबक तोड़ रहे हो।

विशु : तोड़ रहा हूँ सौमू, मैं चुंबक तोड़ रहा हूँ। (पत्थर पर पुनः चोट)

सौम्य० : देवमूर्ति गिर पड़ेगी।

विशु : (अट्टहास) देवमूर्ति भी गिरेगी और शिखर भी। और फिर . . . (पुनः कुदाली का आघात) और फिर मन्दिर की सारी छत और दीवारें नीचे गिर पड़ेंगी, मेरे ऊपर, तुम्हारे ऊपर, इन नीच विश्वासघातियों के ऊपर। (अट्टहास और आघात) कोणार्क टूटेगा. . . टूटेगा—हा—हा—हा—

चालुक्य : (जो अब तक किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा था) रोको, शैवालिक ! सैनिको, कपाट पर धक्का दो। (सैनिक सौम्यश्री को छोड़ कर कपाट पर धक्का देते हैं) और जोर से !

[कपाट खुल जाता है। गर्भ-गृह में तीव्र प्रकाश के बीच निराधार सूर्य-प्रतिमा आप-ही-आप हिलती दीख पड़ती है। यह चमत्कारपूर्ण दृश्य देखकर सैनिक ठिठक जाते हैं।]

शैवालिक : मूर्ति हिल रही है।

एक सैनिक : भगवान् के सारे अंग हिल रहे हैं।

दू० सैनिक : हे भगवान्, हे भगवान् !

चालुक्य : शैवालिक ! सैनिको। . . . डरो मत ! आओ मेरे साथ !

पकड़ लो मूर्ति को ! . . . पकड़ लो, पकड़ लो (विक्षिप्त-सा अन्दर घुस जाता है। शैवालिक और कुछ सैनिक भी उसके साथ जाते हैं। बाकी सैनिक इधर-उधर भाग जाते हैं। अकेला सौम्यश्री गर्भ-गृह के कपाट पर ठिठक कर रह जाता है। पत्थर पर फिर एक चोट)

शैवालिक की आवाज : बचो, बचो। (पत्थर गिरने की ध्वनि) . . . आह !

चालुक्य की आवाज : आह !

[अन्य सैनिकों का आर्त्त स्वर !

एक भीषण धमाका और गर्भ-गृह में चमक के बाद अँधेरा। मूर्ति अदृश्य हो जाती है।

अभिभूत होकर सौम्यश्री घुटनों के बल बैठ जाता है तथा धरती पर मस्तक टेकता है। थोड़ी देर के लिए नीरव।

तभी गर्भ-गृह के बीच विशु दीख पड़ता है। माथे और भुजाओं पर रक्त, किन्तु चेहरे पर दिव्य शान्ति और वाणी में अलभ्य तृप्ति।]

विशु : प्रतिशोध. . . मेरे देवता ! . . . मेरे दिवाकर, शिल्पी का प्रतिशोध. . . !

[सौम्यश्री धीरे-धीरे सिर उठाता है और विशु धीरे-धीरे नीचे गिरता है।]

अन्धकार गाढ़ा हो जाता है और सहसा एक विक्षिप्त वाद्य-संगीत उमड़ उठता है, जिसमें मृदंग इत्यादि ताल-वाद्य विशेष प्रखर हैं।

उसके बाद—]

उपसंहार

[गहन अन्धकार कम हो जाता है और कोणार्क के खँडहर की वही झलक, जो उपक्रम में दीखी थी। संगीत क्रमशः मन्द हो रहा है। और फिर बिलकुल मौन। सूत्रधार और वाचिकाएँ सामने आते हैं और प्रकाश की किरने एक-एक करके उन पर पड़ती है।]

सूत्रधार

यों कोणार्क के विमान के टूटते ही
अत्याचारी चालुक्य और उसके साथियों का विनाश हुआ।
...और विशु ?
जिस विराट् कल्पना को उसने साकार बनाया
उसी की गोद में उसे मृत्यु-शय्या मिली !
वे पाषाण-खंड, जिन्हें उसने जीवन दिया था
उसके शव पर फूलों के समान बिखरे पड़े रहे।
...उसके प्यारे बेटे ने ही तो वे फूल बिखेरे थे !
कैसा अनूठा है यह खँडहर !
(मन्द करुण वाद्य-संगीत)

दूसरी वाचिका

अनूठा खँडहर सोता है।
नहीं यह क्रूर काल का हास,
नहीं क्षणभंगुरता का वास,
प्रणय का नहीं करुण उच्छ्वास,
छिन्न आशाओं का अवसान—
नहीं खँडहर बन रोता है।

पहली वाचिका

रागिनी भग्न, किन्तु उद्दाम,
अरे यह तो है विजयी धाम
कि जिसमें जागृत आठों याम,
कला की जोत; अटल विश्वास
जगाये, खँडहर सोता है
दूर वह खँडहर सोता है।

[मौन और प्रकाश]

परिशिष्ट : १

निर्देशक और अभिनेताओं के लिए संकेत

(१) उपक्रम, उपकथन और उपसंहार मेरे नये प्रयोग हैं, जिनमें आप संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के 'प्रोलौग' और 'एपिलौग' एवं कोरस की झलक पायेंगे। मुख्य नाटक की गति इतनी तीव्र और अविच्छिन्न है कि नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व दर्शकों की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करना, अंकों के बीच उन्हें कथा-प्रवाह और भाव-प्रवाह से अवगत कराना और समाप्त होते ही उनकी उद्वेलित और विशृंखल मानसिक दशा को संकलित करना मैंने जरूरी समझा। इस तरह दर्शकों की संवेदनशीलता को क्रमशः चढ़ाव (आरोह) और उतार (अवरोह) का मौका देना मेरा लक्ष्य है।

सूत्रधार पुरुष है, और उसके दो साथी स्त्री हो सकती हैं, (वाचिकाएँ) अथवा पुरुष (वाचक)। नाटक में अन्यत्र कोई स्त्री पात्र नहीं है; इसलिए विविधता की दृष्टि से अच्छा यही होगा कि स्त्री वाचिकाएँ हों। सामूहिक रूप से तीनों को 'वृन्द-

वार्तिक' की संज्ञा दी जा सकती है। सूत्रधार गद्य बोलता है, वाचिकाएँ पद्य। दोनों ही की वाणी साधारण संवाद के स्तर से ऊपर काव्य-सुलभ कल्पना और भावव्यंजना के स्तर पर विचरती हैं। किन्तु ध्यान यह रखना है कि तीनों ही कथानक के बारे में कई आवश्यक बातें बताते हैं, जिनसे कहानी समझ में आती है। वाचिकाएँ एक-दूसरे से भी बातें करती हैं और सूत्रधार से भी प्रश्न पूछती हैं। सूत्रधार उनकी और दर्शकों की जिज्ञासा पूरी भी करता है और जागृत भी रखता है, एवं आने वाले अंकों की ओर संकेत करता है।

स्पष्ट है कि सूत्रधार और वाचिकाएँ तभी सार्थक होंगे जबकि उनका एक-एक शब्द प्रत्येक दर्शक को बिल्कुल साफ सुनाई दे। इसलिए उनको गाना नहीं चाहिए, वार्ता कहनी चाहिए; पद्य भी गाया नहीं जाय, उच्चस्वर में घोषित किया जाय। स्वरों में वार्तालाप की-सी विविधता हो। वाणी के साथ-साथ हाथों से संकेत और चेहरे पर भावाभिनय द्वारा वार्ता और पद्य के अर्थ को और भी स्पष्ट किया जाय। मतलब यह कि सूत्रधार और वाचिकाएँ अनुभवी और सिद्धहस्त अभिनेता-अभिनेत्री ही होने चाहिए।

इन लोगों के पद्य और वार्ताओं के बीच वाद्य-संगीत आता है जो कोणार्क के निकटवर्ती सागर की विराट हलचल एवं भावानुकूल विविधता का प्रतीक है। किन्तु यदि वाद्य-संगीत की हलचल में शब्द खो जायँ तो सारा नाटक ही ढेर हो जायेगा। ऐसा प्रायः नाट्य-प्रदर्शनों में हो जाता है। इसीलिए मैंने वाद्य-संगीत को वाक्यों और पदों के मध्यांतर रखा है, साथ-साथ नहीं। यदि इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया तो अभिनय निश्चय ही असफल होगा।

(२) उपक्रम और उपसंहार में खँडहर की झलक दिखाने के कई तरीके हो सकते हैं, जिनका व्यवहार निर्देशक के साधनों और कुशलता पर निर्भर है। सबसे अच्छा तरीका श्री उदयशंकर का 'बैक

प्रोजेक्शन टेकनिक' है जिसका उन्होंने अपने 'रामलीला' तक अन्य बैले में व्यवहार किया है। इसमें एक स्लाइड पर रंगीन चित्र अंकित कर पीछे से एक प्रोजेक्टर के आगे इस तरह रखा जाता है कि सामने वाले सफेद पर्दे पर उसका बृहदाकार बिम्ब पड़े। दूसरा सुझाव यह है कि सफेद पर्दे के पीछे कुछ दूर पर कार्ड-बोर्ड में काटे हुए खँडहर के मॉडल को रखकर उसकी ओट से पर्दे पर रोशनी फेंकिये, जिससे पर्दे पर मन्दिर की रूप-रेखा की छायादृष्टिगोचर होगी। जिस सफेद पर्दे पर छाया डाली जाय, वह यवनिका (ड्राप कर्टेन) के फौरन बाद होना चाहिए, जिससे रंगमंच के शेष भाग पर मुख्य दृश्य तैयार रहे और उपक्रम समाप्त होते ही प्रथम अंक के पहले वाक्य सुन पड़ें।

खँडहर का जो चित्र इस पुस्तक के कवर पर दिया गया है, उसी के अनुसार कार्ड-बोर्ड का मॉडल तैयार किया जा सकता है।

यदि आपके पास साधन नहीं हैं, तो छाया-चित्र दिखाने के बजाय एक गहरे नीले या काले पर्दे पर खरिया से खँडहर की रूपरेखा खींच दीजिए। उसी से काम चल जाएगा। यह पर्दा भी 'ड्राप कर्टेन' के तुरन्त पीछे होना चाहिए और शीघ्रता से गिराया या खींचा जाना चाहिए।

(३) मैंने हर अंक में रंगमंच की जैसी कल्पना की है, उसका रेखाचित्र दे दिया है। प्रथम और द्वितीय अंक विशु के कक्ष में होते हैं और तीसरा मुख्य मन्दिर के सामने वाले अन्तराल (बरामदे) में। विशु के कक्ष से, खिड़की में से, पूरे मन्दिर की झलक नहीं मिलती, केवल कुछ हिस्सा दीख पड़ता है। खिड़की के पीछे पर्दे पर चित्र खींचकर डाल दीजिए और उस पर हल्का प्रकाश फेंकिए। साधन न हो, तो दिखाने की जरूरत भी नहीं। उसके बिना भी काम चल सकता है।

(४) प्रथम अंक के प्रारम्भिक अंश में पुरानी कथा का उल्लेख और

बातचीत अधिक है; 'ऐक्शन' कम। इसलिए एकरसता दूर करने के लिए अभिनेताओं को स्वाभाविक रूप से कभी-कभी स्थान परिवर्तन करना चाहिए। स्वर में विविधता का बराबर ध्यान रहे। अभिनय की सुविधा के लिए यदि संवाद के कुछ अंशों को छोड़ना पड़े, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं; लेकिन ध्यान यह रखना है कि कथासूत्र के लिए अनिवार्य कोई वाक्य न छूटे।

(५) पहले और दूसरे अंकों के आखीर में दो-चार वाक्य दर्शकों की उत्सुकता जागृत करने के विचार से लिखे गये हैं। उनकी महत्ता को यथोचित रीति से उभारना चाहिए। दूसरे अंक से संवाद भावावेश और नाटकीय गति का वाहन है। लेकिन बराबर एक-न-एक घटना का ताँता लगा रहता है, इसलिए संवाद में प्रथम अंक की अपेक्षा अधिक मुस्तैदी और स्वाभाविकता होनी चाहिए।

(६) तीसरे अंक के पूर्वार्द्ध में संवाद काव्य-सुलभ सुकोमलता की सतह पर चलता है; इसलिए कुछ विलम्बित गति और आत्मविभोरता की गुंजाइश है, लेकिन प्रायः देखा जाता है कि हमारे अभिनेता काव्यमय वाक्यों को कहते-कहते कभी-कभी इतने विभोर हो जाते हैं कि शब्दों के स्पष्ट और श्रव्य उच्चारण का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि यदि उच्चारण साफ और स्वर दूर तक सुना जाने वाला न हो तो सुन्दर-से-सुन्दर शब्द-समूह केवल विक्षिप्त प्रलाप-सा रह जाता है।

विशु जब अकेला मूर्त्ति को सम्बोधित करके बोलता है, तब उसके एक-एक वाक्य की निजी सत्ता है। लगभग हर वाक्य के बाद थोड़ा विराम है और उसके बाद स्वर भिन्न होना चाहिए, मुद्रा भी भिन्न होनी चाहिए।

जब उत्तरार्द्ध में पत्थर पर चोट की आवाज आती है, तब ध्यान रखिए कि कोलाहल और पत्थर गिरने की आवाज कथनोपकथन के बीच-बीच में हों, उनके साथ-साथ नहीं, वरना शब्द

सुनाई नहीं पड़ेंगे और दर्शक कथासूत्र से वंचित हो जायेगा।

नेपथ्य से विशु की आवाज और कुदाली चलने के स्वर में कुछ सम्बन्ध होना चाहिए। ठीक यही होगा कि विशु ही स्वयं कुदाली चलाये ताकि वह अपने शब्दों पर कुदाली की ध्वनि को हावी न हो जाने दे।

(७) तीसरे अंक में पत्थर टूटने और मन्दिर गिराने की कठिनाइयों की कल्पना करके आप उस अंक के विषय में गलत धारणा न बना लीजिए। पत्थर टूटने, मूर्त्ति गिरने और मन्दिर के विमान के ढहने की सारी प्रक्रियाएँ बैक-ग्राउण्ड में होती हैं। असल में तो मूर्ति जिस गर्भ-गृह में स्थित है, वह भी बैक-ग्राउण्ड में ही है और हमें उसकी झलक-मात्र ही मिलती है। जिस स्थान पर बातचीत होती है, वह तो गर्भ-गृह का अन्तराल है और जब तक उस पर पत्थर गिरें, उससे पूर्व तो पर्दा ही गिर जाना चाहिए। मैंने इस अंक का जो रेखाचित्र दिया है, उससे यह बात साफ हो जाती है। मूर्त्ति कार्ड-बोर्ड की हो सकती है लेकिन 'प्लास्टर आफ पैरिस' की अधिक जँचेगी। कलकत्ते के पास कृष्णनगर के मूर्त्तिकार साधारण मिट्टी और भूसे से ही ऐसी मूर्त्तियाँ बनाते हैं। निराधार लटकने का आभास तार से लटका कर दिया जा सकता है। पुस्तक में अन्यत्र सूर्य भगवान् की मूर्ति का एक चित्र दे दिया गया है।

अन्तिम अंश में संवाद और नाटकीय गति (Action) का तारतम्य भलीभाँति तभी निबाहा जा सकता है, जब अभिनेताओं को 'प्राम्पटर' के सहारे की बिलकुल जरूरत न पड़े। यदि 'पार्ट' भलीभाँति याद न हो, तो तीसरा अंक तो सफल हो ही नहीं सकता। अन्धकार और वाद्य-संगीत के द्वारा उत्तरार्द्ध की कुछ कठिनाइयों पर आसानी से विजय मिल सकती है।

(८) वेश-भूषा के लिए देखिए अजन्ता के चित्र और कोणार्क और

भुवनेश्वर की ही कुछ मूर्तियों के चित्र जो पुरातत्व विभाग, नई दिल्ली से मिल सकते हैं; ऐसी दो मूर्तियों के रेखाचित्र पुस्तक में अन्यत्र दिये गये हैं। अकसर लोग राजसी वेश-भूषा की तड़क-भड़क दिखाने के लिए मुगल-युग के कपड़े प्राचीन नाटकों के पात्रों को भी पहना देते हैं। ऐसी बातें नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने के बजाय उसे क्षीण कर देती हैं। शिल्पियों की वेश-भूषा तो सादी ही होनी चाहिए।*

(६) 'साइड विंग' सीधे-सादे रखिये या प्राचीन-स्तम्भों की भाँति एक रंगे। पारसी थियेटर के रंग-बिरंगे विंग न लगाइए। सौम्यश्री की मूर्ति का एक साइड विंग पर ही संकेत होना चाहिए।

(१०) निर्देशक और संयोजक यह समझ लें कि नाटक की सफलता सेटिंग और तड़क-भड़क पर इतनी निर्भर नहीं करती, जितनी अभिनय की उत्कृष्टता पर। हम लोगों की नाटक-मंडलियों में काम करने वालों की संख्या कम होती है और समझदारों की और भी कम। ये इने-गिने लोग भी यदि अपनी सारी शक्ति भारी पर्दे और चमत्कारपूर्ण 'इफ़ैक्ट' तैयार करने में लगा दें, तो नाटक सिनेमा की भद्दी नकल बनकर रह जायगा। सिनेमा से एक कुशल निर्देशक बहुत कुछ सीख सकता है, लेकिन सिनेमा और नाटक के प्रधान अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। सिनेमा में जो चमत्कार स्वाभाविक जान पड़ते हैं, उनका नाटक में ज्यों-का-त्यों आरोप करना बेकार है। यहाँ तो संवाद और अभिनय की चमत्कार से अधिक महत्ता है और इसलिए उन्हीं पर विशेष जोर डालना चाहिए।

---

*डॉ० मोतीचन्द्र लिखित 'प्राचीन भारतीय वेश-भूषा' जो भारती भंडार, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुई है, हिन्दी में इस विषय पर पहली पुस्तक है और नाट्यशालाओं के लिए तो बहुत ही उपयोगी है।

(११). अन्त में एक विशेष निवेदन है। नाटक का अभिनय करने से पूर्व लेखक को सूचना अवश्य दीजिए और अभिनय के बाद अपने अनुभवानुसार नाटक के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर अपने विचार भी लिख भेजिए।

परिशिष्ट : २

उदय की वेला में हिन्दी-रंगमंच और नाटक

भारतीय रंगमंच और नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध और विकास की चर्चा करते हुए मैंने पहले भी यह मत प्रकट किया था कि सिनेमा के प्रचंड वैभव के बावजूद हमारे रंगमंच का पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है; क्योंकि सिनेमा मनोरंजन की चाह को पूरा करता है, परन्तु संस्कारों के भार से दबी और भूली-सी अभिनयात्मक आदिम प्रवृत्ति को पूरा-पूरा मौका नहीं देता और न दर्शकों को अभिनेताओं के मायावी लोक में अपनी हस्ती खो देने का निमंत्रण देता है। सिनेमा के पर्दे पर चलती-फिरती और जादूगरी से बोलनेवाली मूर्तियों से प्रदर्शन के समय रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होना उतना ही दूभर है, जितना किसी स्वप्न-सुन्दरी से नाता जुड़ना।

किन्तु कौन-सा वह रंगमंच होगा और कैसी वह नाट्यशैली, जो आधुनिक मनोरंजन के अपूर्व साधनों से लोहा लिये बिना फिर से हमारे समाज में उपयुक्त स्थान पा सकें।

यदि हिन्दी में राष्ट्रीय रंगमंच के उदय से तात्पर्य है अभिनय के नियम,

---

सन् १९५० ई० में पटना कालेज, साहित्य परिषद् के लिये लिखा गया निबन्ध।

रंगशाला की बनावट, प्रदर्शन की विधि, इन सभी के लिए एक सर्वस्वीकृत परम्परा और शैली की अवतारणा होना, तो ऐसे रंगमंच का अस्त भी शीघ्र ही होगा। राष्ट्रीय रंगमंच की धारणा के पीछे राजनीतिक ऐक्य के लक्ष्य का आग्रह है। गुलामी के बादलों में से उगते हुए समाज की प्रत्येक चेष्टा में राजनीतिक विचारों का प्रभाव हो, यह स्वाभाविक ही है। दुनिया में जहाँ कहीं राष्ट्र-निर्माण की ओर मानव-समाज झुका वहीं निर्माण के प्रत्येक क्षेत्र पर राजनीतिक विचारधारा ने आसन जा फैलाया। एक भाषा, एक राष्ट्र, एक शिक्षा-प्रणाली और एक संस्कृति यह नारा विभिन्न देशों और विभिन्न युगों में उठाया जा चुका है और आज भारत में भी इसकी गूँज है; किन्तु और क्षेत्रों में इसका जो भी फल हो, सांस्कृतिक विकास के लिए यह सौदा प्रायः महँगा ही बैठता है। अठारहवीं सदी के अन्त में जर्मनी जो उस समय तक विशृंखल रियासतों का समूह मात्र था, अपने आधुनिक राष्ट्रीय एकता के आदर्श की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रही थी। तभी एक जर्मन संस्कृति के नाम पर जर्मन राष्ट्रीय रंगमंच के निर्माण में तत्कालीन जर्मन नेताओं ने उग्र कट्टरता के साथ हाथ लगाया। परिणामतः रंगमंच की एकांगी उन्नति तो हुई, किन्तु साथ ही जर्मनी का पुरातन दरबारी रंगमंच, जिसकी समृद्धि में विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों की छटा प्रस्फुटित हुई थी, मटियामेट हो गया। उससे भी अधिक हानि हुई घूमती-फिरती नाटक-मंडलियों के ह्रास के कारण। इन घुमन्तू अभिनेताओं के माध्यम से जर्मनी की साधारण जनता बोलती थी। उसके स्थान पर राष्ट्रीय एकता से अभिप्रेरित, एक विशिष्ट शैली के रंगमंच की स्थापना हुई और वही शैली जर्मनी के विभिन्न नगरों में प्रचलित होती गयी।

मुझे आशंका है कि कहीं वैसी ही भूल हम लोग भी अपनी आजादी के उषःकाल में न कर बैठें। स्वाधीन भारत को राजनीतिक एकता की जरूरत है। किन्तु भारतीय संस्कृति के लिए विविधता अपेक्षणीय है। जो एक के लिए अमृत है, दूसरे के लिए विष। जिन बादलों को बरस कर धरती को अन्न देना है, वे एक रंग के हों; इसी में कल्याण है, पर जो सूर्य की किरणों

से ज्योतित हो हमारी सौन्दर्याभिलाषिणी आत्मा को तृप्त करें, ऐसे बादलों को तो सतरंगी ही होना है।

अतः राजनीतिक दृष्टिकोण से राष्ट्रीय रंगमंच की रूप-रेखा निश्चित नहीं की जा सकती, नहीं की जानी चाहिए। यह कहा जा सकता है कि अठारहवीं सदी के जर्मनी में रंगमंच की विविध जीवित परम्पराएँ थीं, किन्तु हमारे यहाँ तो साफ मैदान है, जैसी चाहें इमारत तैयार कर लें, कुछ नष्ट करने का डर नहीं किन्तु यह भूल है इसी भूल के कारण भारतीय समाज और साहित्य की वर्तमान शुष्क बालुकाराशि के नीचे जो अन्तः-सलिला धारा बहती रही है, उसमें डुबकी लगाये बगैर ही पिछले पचीस-तीस बरसों के हिन्दी-नाटककार, प्रतिभा और प्रयास के होते हुए भी, जीवंत नाट्य-साहित्य तैयार नहीं कर सके। एक शौकीनी (एमेचर) रंगमंच की स्थापना अवश्य हुई है, सो भी प्रसादोत्तर काल में। यह रंगमंच गतिशील है, स्वस्थ है और समाज के एक वर्ग-विशेष की अनिवार्य माँग की पूर्ति करता है। इसलिए इसका भविष्य उज्ज्वल है। एमेचर रंगमंच पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग से उद्भूत नाटकीय प्रेरणा की अभिव्यक्ति है और इसके द्वारा एक नयी परम्परा की प्रतिष्ठा हुई है, जिसे हमें कायम रखना है।

किन्तु जैसा मैंने ऊपर कहा हैं हमें विस्मृत परम्पराओं की धाराओं की टोह भी लगानी है और उनके लिए मार्ग प्रशस्त करने में ही हमारा सांस्कृतिक नवनिर्माण सफल हो सकेगा। एक अन्तःसलिला धारा थी संस्कृत नाटक-साहित्य में परिलक्षित रंगमंच की, ऐसा रंगमंच जो अपने उत्कर्ष काल में एक अनुपम सामंजस्यपूर्ण संस्कृति का परिचायक था, जिसके विभिन्न अंगों के संतुलन में नागरिक जीवन की सर्वांगीणता सन्निहित थी और जिसके प्रतिबन्धों में शताब्दियों के अनुभव से अर्जित ज्ञान का नियन्त्रण था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस परम्परा को उबारा सदियों के बाद। उनकी प्रतिभा की प्रचण्ड किरणों ने विस्मृति की अभेद्य कारा को खंडित किया, और वसन्त के लुभावने समीरण के स्पर्श से हिन्दी-रंगमंच जाग उठा।

भारतेन्दु द्वारा प्रतिष्ठित धारा का अवसान हिन्दी-साहित्य के आधुनिक

इतिहास में एक महान् दुर्घटना थी। क्यों ऐसा हुआ, इसकी भी अपनी कहानी है, जिसकी ओर हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार का ध्यान आना चाहिए। यहाँ संकेत के तौर पर इतना कहना काफी होगा कि विचार-क्षेत्र में उत्तर-प्रदेश के आर्यसमाजी सुधारवादी सिद्धान्त, सामाजिक क्षेत्र में हिन्दी भाषी प्रान्तों के उच्चवर्गीय नेताओं की संस्कृति-शून्यता, राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता-युद्ध के परिणामस्वरूप आदर्शवादी निग्रह (puritanism) की भावना और भाषा के क्षेत्र में द्विवेदी जी के नेतृत्व में शुद्धता और इतिवृत्तात्मक अभिव्यंजना का आन्दोलन, सभी, किसी-न-किसी रूप अथवा परिस्थिति में भारतेन्दु की रस-प्रवाहिनी निर्झरिणी के लिए मरुस्थल-तुल्य प्राणान्तक सिद्ध हुए। इस तरह हिन्दी-रंगमंच के उत्थान का प्रथम प्रयास, जिसका प्राचीन संस्कृत-रंगमंच से लगाव था, अधूरा ही रह गया। बाद में जो नया दौर चला, उसकी प्रेरणा कहीं और से ही आयी और प्रसाद जी के नाटक तो एक कल्पनाजन्य रंगमंच को आधार मानकर प्रणीत हुए।

क्या अब पुनः उस अधूरे यज्ञ की परिणति हो सकती है? क्या उसकी आवश्यकता भी है इस युद्धोत्तर जनवादी युग में? मैं कहूँगा, हाँ। संस्कृत-नाटक की परम्परा नूतन हिन्दी-रंगमंच के बहुमुखी विकास की एक प्रधान शैली के बीच विद्यमान है।

यदि पाश्चात्य यथार्थवादी रंगमंच से प्रभावित हो हमारे स्कूल, कालेजों और क्लबों द्वारा एमेचर रंगमंच की अभिवृद्धि होगी, तो प्राचीन संस्कृत-पद्धति का आधार ले, और बैले इत्यादि के साधनों से सम्पन्न हो एक नागरिक (urban) और व्यावसायिक (professional) रंगमंच भी हमारे प्रमुख नगरों में प्रस्तुत हो सकता है। ऐसे रंगमंच के लिए संस्कृत-रंगमंच की कमनीयता, इसका सुरम्य वातावरण वांछनीय है; रंगशाला की सजावट, उसके विभिन्न अंगों का वितरण, संगीत और नृत्य का प्रचुर प्रयोग, इन सभी विषयों में संस्कृत रंगमंच की विशिष्ट धरोहर है। सिनेमा और चित्ताकर्षक नृत्य-प्रदर्शन के इस युग में कोई भी व्यावसायिक और नागरिक रंगमंच जीवन को यथातथ्य प्रतिबिम्बित करनेवाले दृश्यों के सहारे नहीं

पनप सकता; किन्तु हृदयग्राही और नयनाभिराम होने के लिए हिन्दी रंगमंच को पारसी थियेटर के कृत्रिम साधनों का सहारा नहीं लेना है और न आधुनिक पाश्चात्य नाट्यशालाओं की प्रतीकवादी पृष्ठभूमि का दामन पकड़ना है। हम संस्कृत रंगमंच की ललित रंगपीठ, सरस स्वाभाविकता और शास्त्रोक्त मुद्राओं और भाव-भंगिमाओं से भरे-पूरे अभिनय को सहज ही अपना सकते हैं। अभी तक श्री पृथ्वीराज कपूर द्वारा प्रस्तुत किये गये नाटकों को देखने का मुझे अवसर नहीं मिला, लेकिन यदि बम्बई में वे संस्कृत-नृत्यशालाओं, वस्त्राभूषणों और अभिनय-कला की कुशल विशेषताओं को अपने थियेटर में, प्रयोग रूप में ही सही, चालू करें, तो मेरा विश्वास है कि वे रुचि-परिमार्जन के साथ-साथ आभिजात्यवर्ग के नागरिकों का यथेष्ट मनोरंजन भी कर सकेंगे। ऐसा रंगमंच व्यावसायिक दृष्टि से असफल नहीं हो सकता; क्योंकि उसमें 'ओपेरा' के गीति-प्रधान वातावरण और रमणीयता और सिनेमा की तीव्र गतिशीलता और नाटकीयता का अलभ्य सम्मिश्रण होगा। मुख्यतः यह रंगमंच नगरों और उत्सवों तक ही सीमित रह सकेगा।

राष्ट्रीय रंगमंच का तीसरा और शायद सबसे महत्वपूर्ण अंग होंगी देहाती नाटक-मंडलियाँ। पिछले दिनों लोगों का ध्यान जनता के विचारों और व्यक्तित्व को प्रभावित करनेवाले इस अचूक साधन की ओर गया है और कम्युनिस्ट पार्टी ने तो अपने पीपुल्स थियेटर द्वारा आरम्भ के दिनों में निस्सन्देह कला का यथेष्ट कल्याण किया, किन्तु कम्युनिस्ट कलाकारों को सिद्धान्त की वेदी पर बेदर्दी के साथ सौन्दर्य का बलिदान करना पड़ता है और इसलिए निकट भविष्य में तो पीपुल्स थियेटर राष्ट्रीय रंगमंच को शायद ही समृद्ध कर सके। दूसरे, यद्यपि पूर्वी बंगाल, तेलंगाना और पश्चिमी मालाबार के कुछ हिस्सों में कम्युनिस्ट-मंडलियों को देहाती अभिनेताओं और गायकों इत्यादि का सहयोग अंशतः मिल सका, तथापि हिन्दी-भाषी प्रदेशों में ये मंडलियाँ प्रायः पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय उग्र विचारवान् प्रतिभाशाली और उत्साही नवयुवकों की बानगी बनकर ही रह गयीं। ये मध्य-

वर्गीय नवयुवक, जिन्होंने शहरों में रहकर, पाश्चात्य विद्वानों की पुस्तकों के आधार पर अपनी विचार-शैली निर्धारित की थी, अपने प्रगतिशील सिद्धान्तों की खातिर ऐसा जान पड़ता था, देहाती पोशाक पहन लेते थे। उन्होंने पढ़ा कि रूस में जनता का नाटक पार्टी की प्रेरणा से खूब पनपा। इसीलिए यहां भी, उन्होंने देहाती नाम, देहाती समस्याओं और देहाती पोशाक का सहारा ले, मिली-जुली देहाती भाषा में बड़े शहरों में और कहीं-कहीं गाँवों में भी अपने सिद्धान्तों का प्रचार शुरू कर दिया। थोड़े दिन तो यह चीज खूब चमकी; किन्तु आकाश की जिस धारा ने धरती के नीचे प्रवाहित होने वाले सोतों से नाता नहीं जोड़ा, वह तो ऊपर-ऊपर ही बहकर ढल जाती है। कम्युनिस्ट रंगमंच ने वस्तुतः बिहार, उत्तरप्रदेश, और मध्यप्रदेश में, देहातों में प्रचलित और लोकप्रिय अभिनय-प्रणालियों से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया और न इन देहातों में जौहर दिखलानेवाले अशिक्षित या अर्धशिक्षित अभिनेताओं और गायकों को अपनाया। उन्होंने उन प्रणालियों अथवा पद्धतियों का अंशतः अनुकरण तो किया, लेकिन चालू प्रणालियों से सीधा सम्बन्ध नहीं जोड़ा। शायद उसमें उन्हें ह्रासोन्मुख (Decadent) संस्कृति के चिह्न दीखे।

वस्तुतः हमें राष्ट्रीय रंगमंच के इस विशाल क्षेत्र को उर्वर बनाने के लिए उस लोक-रुचि की माँग को समझना होगा, जिसके सहारे अब भी इतनी नौटंकी-पार्टियाँ और मंडलियाँ जीती रही हैं। छः-सात वर्ष हुए बिहार के एक साधारण-से ग्राम में दौरा करते समय मुझे उस गाँव की ही एक मंडली द्वारा प्रस्तुत किया गया नाटक देखने का अवसर मिला। ठठ-के-ठठ पुरुष और नारी जमा थे। स्टेज के नाम पर एक चौकी। एक ढोलकवाला था। अभिनेता कुल चार या पाँच। दर्शक तीन तरफ। न कोई पर्दा न कोई विशेष सजावट। नाटक का नाम था 'जालिमसिंह' जो उत्तरी बिहार में खासा प्रसिद्ध है। अभिनय में कोई विशेष कला नहीं थी। कहानी अच्छी होते हुए भी, उसमें कई अश्लील अंश थे। लेकिन मुझे लगा, जैसे उस नाटक के खेलनेवालों और चारों ओर उमड़नेवाली जनता में एक

संशयहीन आत्मीयता हो, जिसका मैं एक अंग नहीं बन सका। उसके बाद बिहार और पूर्वी यू० पी० के भोजपुर इलाके के लोकप्रिय कलाकार भिखारी ठाकुर के विषय में बहुत कुछ सुनकर और उनके 'बिदेसिया' के नाम पर जुट पड़ने वाली जनता की मनोवृत्ति का अध्ययन कर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि देहाती रंगमंच उन आदिम अभिनयात्मक इच्छाओं की अभिव्यंजना है, जिसके बल पर ही सिनेमा के तीव्र प्रचार के बावजूद रंगमंच अपना अस्तित्व कायम रख सकता है।

देहाती रंगमंच की बुनियाद में अभिनेता और दर्शक के बीच वही तदात्मीयता (Mutual understanding) है, जिसका जिक्र मैं ऊपर कर आया हूँ। यह तभी संभव हो सकता है, जब नाटक-मंडली के अभिनेता और प्रबंधक देहाती जनता की रुचि, इच्छा और माँग का अध्ययन करें। उसकी तथाकथित अश्लीलता या बेरोक रसानुभूति से नाक-भौं न सिकोड़ें और उच्च स्तर से आविर्भूत होने वाले उपदेशकों की भाँति, नीति अथवा उद्धार की झड़ी न लगायें और न आर्थिक शोषण का जड़ोन्मूलन करने के लिए जनता को भावोद्वेलित करने की आशा करें। यह तो प्रधानतः मनोरंजन का क्षेत्र है। इसे परिमार्जित करने का एक ही मार्ग है, यानी जो मनोरंजन भोंड़ा है उसे सुन्दर, कलापूर्ण और स्वस्थ बनाया जाय। उदाहरणतः इन नाटकों में रंगमंच की सजावट में ग्रामीण कला को अवसर दिया जाय। चटाइयों पर गेरू से सुन्दर डिजाइन बना कर मंच के उपपीठ पर लटकाये जायँ। गाँव की स्त्रियाँ अल्पना अंकित करें। भद्दे शहरी पर्दों के स्थान पर बैक-ग्राउंड में जंगली पत्तियों और फूलों की लड़ियाँ टाँगी जायँ। गाने-बजाने की बहुलता रहे। हारमोनियम के स्थान पर सारंगी और तबले के स्थान पर ढोलक हो। चूँकि परदे बदलने की तो गुंजाइश वहाँ होती नहीं है, इसलिए दृश्य-परिवर्तन और नाटक में धारा-प्रवाह को जारी रखने के लिए एक सूत्रधार रहे। वह अच्छा गायक और हाजिर-जवाब होना चाहिए। संस्कृत नाटकों में तो सूत्रधार प्रस्तावना के बाद गायब हो जाता था। लेकिन आधुनिक देहाती रंगमंच में उसकी बराबर

जरूरत पड़ेगी और उसका काम लगभग वही होगा, जो यूनानी नाटकों में कोरस द्वारा संपन्न होता था, यानी नाटक और दर्शकों के बीच सूत्र कायम रखना। स्थान-स्थान पर नाटक के कथानक के प्रति उत्सुकता जागृत रखने के लिए, वह टिप्पणी देगा, अभिनेताओं को कपड़े बदलने का समय देने के लिए, दर्शकों का मनोरंजन करेगा और नाटक के भावुक स्थलों पर भावावेग के अनुकूल गीत सुनाकर उसी प्रकार नाटकीय संवेदना का संवर्धन करेगा, जैसे आधुनिक सिनेमा और रेडियो रूपक में पार्श्व-संगीत।

अभिनेता, जहाँ तक हो सके, देहातों में से ही लिये जायँ, यद्यपि सूत्रधार का आधुनिक संस्कृति और ज्ञान-राशि से परिचित होना आवश्यक है। मैंने ग्रामीण जनता के सभी वर्गों में कुशल अभिनय की दक्षता रखने वाले व्यक्तियों को पाया है। थोड़ी ट्रेनिंग से उनकी योग्यता निखर जायगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। देहाती नृत्य और सम्मिलित गीत, उस रंगमंच के महत्त्वपूर्ण अंग रहेंगे। हर प्रदेश के अपने-अपने जन-नृत्य हैं, जिसका बड़े-बड़े नगरों के अत्याधुनिक रंगशालाओं में नये फैशन के युवक-युवतियों द्वारा शौकीनी प्रदर्शन पिछले दिनों खूब किया गया है। लेकिन ठेठ देहात में ,जहाँ की यह चीज है, नैसर्गिक वातावरण में, देहाती युवक-युवतियों को ही अपने रंगमंच पर प्रदर्शन करने के लिए कहाँ तक उत्साहित और संगठित किया जा रहा है, इसमें मुझे बहुत कुछ संदेह है।

देहाती रंगमंच का संगठित रूप क्या है और उसकी अन्य क्या विशेषताएँ होनी चाहिए, इस विषय पर सविस्तार भविष्य में लिखूँगा। क्योंकि इस क्षेत्र में कुछ क्रियात्मक अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही मुझे विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार हो सकता है। पिछले छः वर्षों से वार्षिक वैशाली महोत्सव के अवसर पर मैं इस ढंग के देहाती रंगमंच की कल्पना को कार्य-रूप में परिणत करने की चेष्टा करता रहा हूँ। कुछ सफलता भी मिली है, क्योंकि वैशाली तो एक गाँव ही है, रेलवे स्टेशन से २३ मील दूर; और चाहने पर भी वहाँ नगर के साधन उपलब्ध नहीं हो सकते। ग्रामीण अभिनेता, ग्रामीण दर्शक, ग्रामीण उपादान सभी मिल जाते हैं। निर्देशन

हम लोगों का होता है और विशेषतः सजावट का निर्देशन कलाकार उपेंद्र महारथी का। फिर भी कार्यक्रम में कालेज के नवयुवकों द्वारा प्रस्तुत नाटक शामिल करने ही पड़ते हैं। शायद भविष्य में अधिक सफलता मिले।

इस वर्ष से बिहार में सरकार की ओर से सांस्कृतिक चेतना संबंधी योजना में हम लोगों ने देहाती रंगमंच के विकास के उद्देश्य से मोद-मंडलियों की स्थापना की है। योजना सरकारी है और इसलिए उसकी गति गजगामिनी की-सी है। स्वरूप भी वैसा हो, तो शिकायत को गुंजायश न रहेगी किंतु सांस्कृतिक क्षेत्र में निश्चित रूप से यह पहला सरकारी कदम है और फूंक-फूंक कर उठाया जा रहा है। लोगों को भी यकीन नहीं होता कि इसके पीछे कोई और तो चाल नहीं है। यदि यह तजुरबा अंशतः भी सफल हुआ तो मैं एक या दो वर्ष बाद इसकी पूरी कथा हिंदी-पाठकों के सामने रखूँगा।

ऊपर के विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आये दिन हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशों में राष्ट्रीय रंगमंच का क्रमिक निर्माण तीन पहलुओं में हो रहा है। मेरे विचार से इन्हीं तीन शैलियों में भावी हिन्दी-रंगमंच की रूप-रेखा सन्निहित है, यानी १. यथार्थवादी, एमेचर (शौकीनी) रंगमंच, २. प्राचीन नाट्य परम्परा से प्रेरित किंतु आधुनिक व्यावसायिक साधनों से सम्पन्न नागरिक (urban) रंगमंच और ३. परिमार्जित और संशोधित रूप में देहाती रंगमंच। यदि हमारे उदीयमान नाटककार और उत्साही निर्देशक और अभिनेता इन प्रवृत्तियों को नजर में रखते हुए अपनी कार्य-प्रणालियाँ निर्धारित करें, तो बहुत-सी बेकार मेहनत बच जाय और हिन्दी राष्ट्रीय रंगमंच और नाट्य साहित्य की वास्तविक उन्नति हो।

इससे पहले कि इन प्रवृत्तियों के अनुकूल नाट्य-साहित्य की आवश्यकताओं की ओर मैं इशारा करूँ, यह जरूरी है कि हमारे रंगमंच के पुनर्निर्माण काल को दो प्रबल शक्तियों यानी सिनेमा और रेडियो का जो प्रभाव इन तीन धाराओं पर पड़ रहा है, या पड़ सकता है, उसका भी कुछ अंदाजा लगा लिया जाय। सिनेमा को मैं रंगमंच का घातक मानने के लिए

तैयार नहीं। मेरे विचार में तो सिनेमा ने रंगमंच के पुनरुत्थान के लिए अनुकूल वातावरण पैदा कर दिया है। सदियों से भारतवर्ष की जनता नाट्य और अभिनय-कला की ओर से उदासीन हो चली थी। लेकिन लोकरुचि पर काई जम गयी थी और उच्च सांस्कृतिक क्षेत्र में अभिनय और नृत्य प्रदर्शन का कोई स्थान ही नहीं रह गया था। सिनेमा ने उस काई को काट-कर फेंक दिया और देखते-ही-देखते अभिनय और कलात्मक प्रदर्शन हमारे सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग बन गये।

यह सच है कि सिनेमा की लोकप्रियता ने पारसी थियेटर को नष्ट कर दिया, लेकिन उसके विनाश का कारण सिनेमा के आधुनिक मशीन-युग के साधन ही नहीं थे, बल्कि अभिनय कला का एक नवीन दृष्टिकोण भी। सिनेमा ने जब यह दिखाया कि यथार्थ जीवन में जैसी बातचीत, जैसा व्यव-हार, जैसी भाव-भंगिमाएँ होती हैं, वैसी ही नाटकों में प्रदर्शित की जा सकती हैं, तो पारसी थियेटर के जोशीले भाषण, फड़कती हुई शेरें और तमक कर बोलने की परिपाटी अपना सारा आकर्षण खो बैठे। 'चंद्रकांता संतति' के तिलिस्म को जैसे प्रेमचंद के यथार्थवादी उपन्यासों ने ढहा दिया, ऐसे ही सिनेमा ने पारसी थियेटर के शीशमहल को खँडहर बना दिया। नतीजा यह हुआ कि जब इब्सन, शा, गाल्सवर्दी इत्यादि से प्रेरित हो कर उत्तर भारत के कुछ नगरों में एमेचर रंगमंच का आविर्भाव हुआ, तो सिनेमा के उदाहरण ने उसके यथार्थवाद के लिए दर्शकों को तैयार कर दिया। एकांकी की उन्नति में सिनेमा का कितना जबरदस्त हाथ रहा है, इस पर शायद एकांकी-लेखकों ने भी विचार नहीं किया है। भारतवर्ष में बोलते सिनेमा के प्रचार से पूर्व यदि यथार्थवादी, विशेषतः सामाजिक नाटक लिखे जाते, तो उनको रंगमंच पर उतारना शायद असंभव हो जाता। रंगमंच पर दैनिक जीवन का यथा-तथ्य प्रदर्शन हो, इसकी कल्पना भी दर्शक-समाज नहीं कर सकता था। लोकरुचि में इतनी बड़ी क्रान्ति करके सिनेमा ने स्वाभाविक अभिनय की कला को रंगमंच पर ला बैठाया। तो क्या यथार्थवादी एमेचर रंगमंच ही को सिनेमा कुछ दे सका है? यदि हिन्दी राष्ट्रीय रंगमंचके उत्थान में सिनेमा

की केवल इतनी ही उपयोगिता रहती, तो उसका कोई स्थायी मूल्य नहीं होता, क्योंकि कोई भी यथार्थवादी रंगमंच, कम-से-कम भारतवर्ष में, जीवन के यथातथ्य चित्रण में सिनेमा से बाजी नहीं ले जा सकता। लेकिन मैं ऊपर कह आया हूँ कि हिन्दी-रंगमंच की तीन धाराओं में से एक यानी नागरिक, व्यावसायिक रंगमंच यथार्थवादी नहीं होगी। उसकी विशेषताएँ होंगी काव्य-सुलभ रसानुभूति से परिपूर्ण वातावरण, मर्मस्पर्शी और सहज स्वाभाविकता एवं शास्त्रोक्त मुद्राओं से संपन्न अभिनय और नृत्य, संगीत और नयनाभिराम दृश्यों से अलंकृत प्रदर्शन (Spectacle)। ये विशेषताएँ नागरिक रंगमंच को न सिर्फ संस्कृत-रंगमंच से मिलेंगी, बल्कि भारतीय सिनेमा की उस नवीन शैली से भी, जिनके उदाहरण के तौर पर विद्यापति, वसन्तसेना, नर्तकी, रामराज्य, पुकार और अनेक पौराणिक फिल्मों का नाम लिया जा सकता है। इस शैली से नागरिक रंगमंच भव्य वातावरण प्रस्तुत करने के उपाय ले सकता है। प्रकाश और अंधकार का समुचित व्यवहार संवेदन के संवर्धन में कैसे किया जा सकता है, भावोद्रेक जताने के लिए क्योंकर संवाद में गति लायी जा सकती है, गीत और नृत्य कैसे स्थलों में प्रभावोत्पादक हो सकते हैं, इन सभी महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर सिनेमा की इस नयी शैली ने प्रचुर प्रयोग किये हैं, नागरिक रंगमंच जिससे यथेष्ट लाभ उठायेगा।

अतः यदि भारतीय सिनेमा को भावी हिन्दी-राष्ट्रीय रंगमंचकी प्रयोगशाला कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति न होगी। रेडियो की छाप भी उस पर निश्चय ही रह जायगी। हिन्दी-साहित्यका इतिहास मुक्त कंठ से यह स्वीकार करेगा कि आल इंडिया रेडियो ने हिन्दीमें नाटय-रचना को फिर से सार्थकता प्रदान की। उसने न सिर्फ नये रूपककारों को प्रकाश में ला बैठाया, बल्कि पुरानी कृतियों के लिए भी एक नवीन क्षेत्र प्रस्तुत कर दिया। उसने एक नयी माँग पेश की, जिसके जवाब में हिन्दी-लेखक को अपनी कलम साहित्य के इस विस्मृत क्षेत्र में चलानी पड़ रही है। इसके अतिरिक्त रेडियो-रूपक की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जिन्हें रंगमंच के लिए नूतन उपकरण माना

जा सकता है। पार्श्व-संगीत की टेकनीक को रेडियो ने खूब निखार लिया है। अभिनय-कला में स्वर-संधान की महत्ता रेडियो ने ही पहले-पहल स्थापित की है और भाव-भंगिमा के अभाव में स्वर में चित्रोपमता की क्षमता ला देना, यह अभिनय-कला को रेडियो की एक स्थायी देन है। भावी रंगमंच इन नये उपकरणों को निश्चय ही अपनावेगा।

* * *

उत्तरी भारतवर्ष में नाट्य साहित्य का लोप आप-ही-आप नहीं हुआ था। मुसलमानी राज्य में धार्मिक कट्टरता ने मूर्ति-कला और रंगमंच दोनों पर प्रहार किया। राज्य का प्रश्रय मिला नहीं और जनता भयाक्रान्त हो मनोरंजन से विमुख हो गयी। यों लगभग एक हजार वर्ष तक उत्तरी भारत में तो नाटक कोरे अध्ययन की सामग्री बन कर रह गया।

अब यदि एक हजार वर्ष बाद हम रंगमंच और रूपक-साहित्य को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, तो यह क्रिया भी आप-ही-आप नहीं होगी। कविता भावुक हृदय से अनायास ही बह निकलने वाली निर्झरिणी हो सकती है, यद्यपि उसकी तह में भी सामाजिक प्रेरणाओं का दबाव होता है, किन्तु नाट्य-साहित्य का रंगमंच की माँग से सीधा सम्बन्ध है और रंगमंच स्वतः ही नहीं बनता। राष्ट्र और समाज, संस्कृति-क्षेत्र के नेता और शासन, सभी को परंपरा, परिस्थिति और उपकरणों को ध्यान में रखते हुए नये रंगमंच की रूप-रेखा निश्चित करनी है, और जहाँ तक सम्भव हो, उस निश्चित योजना के अनुसार साधन एकत्र कर रंगमंच के आंदोलन को चलाना है। ऐसे आन्दोलन के आग्रह से लेखक-समाज बच नहीं सकेगा, और कुछ ही समय में एक समृद्ध नाट्य-साहित्य की नींव पड़ जायगी।

पिछले पृष्ठों में रंगमंच की जो 'त्रिमुखी योजना मैंने उपस्थित की है, वह एक संकेत है इसी मार्ग की ओर। मैं यह कहने की धृष्टता नहीं करूँगा कि हिन्दी भाषी समाज इस संकेत को आँख मूँद कर मान ले, यद्यपि मेरा अनुभव है कि रंगमंच के जिस त्रिमुखी विकास की मैं कल्पना कर

रहा हूँ, वही दिन प्रतिदिन स्पष्ट होती हुई सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का चरमोत्कर्ष हो सकता है।

यदि यह न भी हो, तो भी मेरा यह तो पक्का विश्वास है कि जनता, शासन और सांस्कृतिक संस्थाओं को कुछ इसी तरह का बहुमुखी आंदोलन खड़ा करना होगा। हमारा राष्ट्रीय रंगमंच एकमुखी नहीं हो सकता और न होना ही चाहिए।

इसीलिए हमारा नाट्य-साहित्य भी कई विभिन्न शैलियों का संग्रह होगा, एक ही परिपाटी का उत्थान मात्र नहीं।

लेकिन मुझे लगता है, मानो हम आधुनिक हिन्दी के नाटककार बरबस ही एक शैली की तलाश में भटक रहे हों। जो नये प्रयोग हो रहे हैं उनके पीछे रंगमंच की सामर्थ्य नहीं। इसलिए हमें रंगमंच की पद्धतियाँ भी निर्धारित करनी हैं और उसके साथ-ही-साथ नाट्य-साहित्य की शैलियाँ भी। दोनों कार्य समानान्तर रेखाओं की तरह चलें। यह सोचना कि पहले रंगमंच तैयार हो जाय तब नाटक लिखे जायँ, या नाटकों की रचना करा-कर रंगमंच को तदनुसार तैयार कर लें, भारी प्रवंचना होगी।

लेकिन मैं लेखक-समाज को हुक्म नहीं देना चाहता कि ऐसा लिखो और ऐसा नहीं। कलाकार को जबरदस्ती आदेश देने की क्षमता भला किसमें है ?

हमारा राष्ट्र-निर्माण की पहली सीढ़ियों पर है। ऐसे क्षण में लेखक-समाज द्वारा समय और शक्ति का अपव्यय बहुत अखरता है। अपव्यय दो तरह का आजकल हो रहा है--१. नयी पीढ़ी के उदीयमान साहित्यकार मुक्तक-काव्य की झड़ी लगाये जा रहे हैं, मानो उन्होंने छायावादी परंपराओं को रीतिकालीन सवैयों की परिपाटी की भाँति साँचे ढालने वाली मशीन बना देने का व्रत लिया हो। नाटक का क्षेत्र है, वीरान, लेकिन उधर कौन नजर डाले ? २. जो नाटककार हैं, वे प्रायः शून्य में सेज सजा कर किसी काल्पनिक रंगमंच की प्रिया से मिलन की तैयारियाँ कर रहे हैं। कुछ लोग हैं कि कोरे संवादों के चमत्कार को नाट्यगति (action) का

स्थान दे कर संतुष्ट हो जाते हैं, कुछ के हरेक पात्र में एक ही व्यक्तित्व यानी लेखक का निजी व्यक्तित्व प्रतिबिंबित होता है, कुछ का कथानक इतना सपाट होता है कि प्रथम दृश्य में ही अंतिम दृश्य की झलक मिल जाती है और कुछ के पात्र भाषणों का ताँता बाँधते हैं, तो रुकने का नाम ही नहीं लेते।

प्रतिभा और समय के इस अपव्यय को रोकने के लिए लेखक-समाज को सामूहिक इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना होगा। यह सामूहिक इच्छा-शक्ति साहित्यकारों की संस्थाओं द्वारा स्वीकृत और शासन द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त योजनाओं के रूप में प्रकट की जा सकती है। इन योजनाओं में श्रेष्ठ नाटकों पर पुरस्कार, नाटकों के अभिनीत कराने का प्रबंध, उदीयमान नाटककारों को आर्थिक सहायता, इन सबका विधान तो होगा ही, पर इनके साथ-ही-साथ नाटक-लेखन की कला के नियमों का संकलन और नाटककारों के लिए शिक्षा-केंद्रों का आयोजन भी होगा।

मेरे भावुक साहित्यकार मित्र चौंकें नहीं। मैं कला को बंधनविवश और साहित्यिक नेताओं से आक्रांत दासी का रूप देने की तदबीर नहीं कर रहा हूँ। लेकिन कोई मुझे बतावे कि कौन-सी उत्कृष्ट कला नियमबद्ध नहीं और किस कला के साधकों को अध्ययन और अध्यवसाय के बिना कोरी भावप्रवणता के आधार पर सफलता मिली है? काव्य-प्रणयन में हाथ लगाने से पूर्व कवि छन्द-शास्त्र, अलंकार और पूर्ववर्ती कवियों का थोड़ा-बहुत अध्ययन करता है। समस्त प्राचीन नाट्य-साहित्य इसका साक्षी है, किंतु हिन्दी में नाटककारों के पथ-प्रदर्शन के लिए कोई उपयुक्त रीति-ग्रंथ ही नहीं है। प्राचीन संस्कृत नाट्यशास्त्र का अध्ययन करने का हम लोग कष्ट नहीं उठाते और यह भी ठीक है कि वर्तमान परिस्थिति में, उसी परंपरा के रंगमंच के अभाव में प्राचीन संस्कृत नाट्यशास्त्र को बिना कतर-ब्योंत किये हम ज्यों-का-त्यों अपना ही नहीं सकते। अधिकतर लेखक आधुनिक पाश्चात्य नाटककारों इब्सन, गाल्सवर्दी, शा इत्यादि से प्रभावित होकर ही कलम उठाते हैं। लेकिन इन पाश्चात्य नाटककारों

के पीछे अविच्छिन्न नाट्य-साहित्य की परंपरा है, जिसका उद्गम है प्राचीन यूनानी नाटक। साथ ही उन्हें प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक शास्त्रकारों और साहित्य-नियामकों की धरोहर उपलब्ध है। पाश्चात्य नाटककार प्रायः थ्री यूनिटीज, ट्रेजेडी के द्वन्द्वात्मक आधार, चारित्रिक उत्थान, कथानक में चरमबिन्दु का समावेश आदि सिद्धांतों से परिचित होते हैं। अरस्तू, बेनजान्सन, गेटे, ब्रैडले और कतिपय आधुनिक समालोचकों ने नाट्यकला के विषय में जो सिद्धांत प्रतिपादित किये हैं, वे उदीयमान पाश्चात्य नाटककार के लिए एक मानसिक पृष्ठभूमि का काम देते हैं। यदि मैं कहूँ कि कुछ ऐसी ही मानसिक पृष्ठभूमि की हमारे यहाँ भी आवश्यकता है, तो इसे सृजनात्मक प्रवृत्ति पर शास्त्रीय बंधन लगाने की चेष्टा न समझा जाय।

जैसे हमारे रंगमंच को बहुमुखी होना है, एक शैली में ही सीमित नहीं रहना है, वैसे ही हमारा नाट्य-साहित्य भिन्न-भिन्न सामाजिक आवश्यकताओं और चेतनाओं का परिचायक होगा, उसकी भी शैली बहुमुखी होगी। तदनुसार ही वह मानसिक पृष्ठभूमि, वह नियमों और विधियों का संकेत जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, विविध प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिबिंब होगी। जो इन सिद्धान्तों, नियमों और विधियों का संकलन और संपादन करें, उन्हें अपनी दृष्टि रंगमंच की भावी रूप-रेखा पर रखनी है।

उदाहरणतः नागरिक रंगमंच के लिए नाटकों में काव्यात्मक शैली द्वारा रस-परिपाक—यह परंपरा संस्कृत-नाटकों से ली जा सकती है। वस्तुतः प्राचीन नाटक दृश्य-काव्य था, यानी दर्शकों के लिए वह कविता का अभिनय द्वारा निरूपण था, जीवन का दर्पणतुल्य प्रदर्शन नहीं। आज के व्यावसायिक रंगमंच पर भी ऐसे ही नाटक शायद अधिक सफल हो सकें। उस शैली को अधुनिक प्रतीकवादी नाटककार मेटरलिंक, जेम्सबेरी, लेडी ग्रेगरी इत्यादि के वातावरण-प्रधान नाटकों से बहुत कुछ मिल सकता है। देहाती रंगमंच के लिए जो नाटक लिखे जायँ, उनमें भी

प्राचीन संस्कृत और यूनानी नाटकों से कुछ पद्धतियाँ समाविष्ट की जा सकती हैं, यथा—सूत्रधार और विष्कंभक को यूनानी कोरस की पद्धति में ढाल कर एक नवीन प्रकार के रंग-नायक की सृष्टि की जा सकती है, जो यवनिका और परदों के बिना ही नाटक की पृष्ठभूमि और भिन्न अंकों का एक-दूसरे से संबंध प्रकाशित कर सके, साथ ही उस सूत्रधार के कथनों में भी नाटक की काव्य-शैली और गीतों का समावेश हो। यथार्थवादी रंगमंच का नाट्य-साहित्य मुख्यतः समस्यामूलक और आधुनिक विचार-धारा और संघर्षपूर्ण व्यक्तित्व का परिचायक होगा। किंतु साथ ही सिनेमा की प्रभाववादी शैली और रेडियो-रूपक की संकेतवादिता दोनों ही का यथार्थवादी नाट्य-साहित्य पर स्थायी प्रभाव पड़ेगा।

इस प्रकार उदीयमान रंगमंच की विभिन्न शाखाओं की माँगों को दृष्टिकोण में रखते हुए नाट्य-लेखन कला के कुछ बुनियादी नियमों का संकलन और प्रतिपादन लेखकों के लिए उपादेय सिद्ध होगा। यह न समझा जाय कि मैं नाट्य-साहित्य के प्रणयन के पूर्व रूढ़ियों की स्थापना कराना चाहता हूँ। इन नियमों की आवश्यकता संकेत के तौर पर है और ज्यों-ज्यों नाट्य-साहित्य की समृद्धि और विकास होते जायँगे त्यों-त्यों इन सिद्धांतों में भी परिवर्तन और उनका परिमार्जन होता चलेगा। नियमों को मैं मात्र प्रयोजन के रूप में देखता हूँ, अचल मान्यताओं के रूप में नहीं। प्रतिभा को जब नियमों के प्रकाश द्वारा प्रगति की राह मिल जायगी, तब वह अपने में अंतर्निहित ज्योति को उकसा कर अपने-आप ही मार्ग-निर्देशन कर लेगी। लेकिन अभी तो अंधे की भाँति टटोलना पड़ रहा है। साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण अंग की रूप-रेखा, जिसमें कविता की भाँति केवल भावोद्रेक ही सृजन का कारण नहीं हो सकता, हिन्दी में स्थापित नहीं हो पायी है। संस्कृत-नाटक की परंपराएँ लुप्त हो गयीं। इसलिए यदि ऐसे निर्देशन का विधान नहीं किया जायगा, तो यही नहीं होगा कि इने-गिने नाटककार अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग लेकर बैठ जायेंगे, बल्कि नवयुवक साहित्यकार इस अनजाने-

से पथ पर अग्रसर भी न होंगे। इसलिए मैं तो यहाँ तक कहने को लिए तैयार हूँ कि इस अपेक्षित अंग को संपन्न बनाने के लिए हमारी प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं और विश्वविद्यालयों को नाट्यकला के शिक्षा-केंद्र चलाने चाहिए। अमेरिका में तो कुछ विश्वविद्यालयों में पाकशास्त्र की भी डिग्री होती है, नाट्यकला का स्थान तो इससे कहीं ऊँचा है, और भारतीय शास्त्रों में चौंसठ कलाओं की प्रमुख श्रेणी में इसकी गिनती है। यदि कोई विश्वविद्यालय नाट्यकला में बी० ए० (कला स्नातक) की डिग्री की व्यवस्था करे, तो इससे बढ़ कर उपाधि कला के क्षेत्र में क्या हो सकेगी ?

ऊपर लिखे विचारों में रंगमंच और नाट्यकला की ही सीमित आवश्यकताओं का आग्रह दीख पड़ेगा और शायद कुछ पाठक मुझे याद दिलाना चाहें कि रंगमंच और नाटक, समाज की प्रगति और प्रवृत्ति पर निर्भर रहते हैं। मैं इस पहलू से अवगत हूँ और एक नूतन योजना की ओर संकेत करने का साहस भी मुझे इसीलिए हुआ है कि भारतीय समाज विशेषतः हिन्दी समाज, सदियों बाद पुनः सामूहिक मनोविनोद को एक सुसंस्कृत और गंभीर कला के रूप में ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत है। सामूहिक मनोरंजन का सबसे कलापूर्ण, सुरुचिसंपन्न और स्थायी रूप है रंगमंच। हमारा समाज अपने भिन्न-भिन्न स्तरों में मनोरंजन को इस सुव्यवस्थित रूप में देखना चाहता है। राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक चेतना दोनों ने हमें अपनी सांस्कृतिक इच्छाओं से अवगत करा दिया है। ये इच्छाएँ एक उन्मुक्त व्यक्तित्व का उठान हैं, वे किसी कुण्ठित व्यक्तित्व की अपने से बचने की चेष्टाएँ नहीं। साथ ही अपनी परंपराओं और उपेक्षित सांस्कृतिक साधनों के प्रति सचेष्ट जागरूकता भी स्पष्ट होती जा रही है। भरत-नाट्यम, मणिपुरी नृत्य, कथाकली नृत्य, नौटंकी, सिनेमाओं में प्राचीन ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक, देहाती तर्जों के गीत, सभी को जन-रुचि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान मिल रहा है, और ये सभी रंगमंच के सुव्यवस्थित माध्यम की राह देख रहे हैं।

इसलिए हम रंगमंच के चाहे जो वर्गीकरण करें और नाट्य-साहित्य के मार्ग निर्धारित करने के लिए चाहे जिन नियमों का प्रतिपादन करें, इन वर्गों और नियमों को सामाजिक परिस्थितियों और जनता की रुचि का अनुमोदन करना ही होगा। मेरी दृष्टि में निकट भविष्य का हिन्दी-रंगमंच और नाट्य-साहित्य प्रायः तीन प्रमुख शैलियों में अवतरित होगा और हो रहा है। लेकिन सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ एवं प्रेरणाएँ परिवर्तनशील हैं, और सृजन-शक्ति का मूलस्रोत चिरंतन से प्रवाहशील है। कौन योजनाकार इस अबाध प्रगति को नियमों की चहारदीवारी में बाँध सकता है ?

—जगदीशचन्द्र माथुर

अभ्यास के प्रश्न

कोणार्क (नाटक) लेखक श्री जगदीशचन्द्र माथुर

प्रथम अंक

नोट : नीचे लिखे प्रश्नों के पाँच-पाँच विकल्प दिए गए हैं। सही विकल्प का क्रमाक्षर प्रश्न की दाहिनी ओर के कोष्ठक में लिखिए :-

(१) 'सर्वेसर्वा' का क्या अर्थ है ?

(क) प्रधान (ख) सबसे श्रेष्ठ (ग) पराक्रमी
(घ) महत्त्वपूर्ण (च) सब कुछ ( )

(२) 'मणि कांचन योग' का क्या अर्थ है ?

(क) दो लाभ होना (ख) दो कार्य होना
(ग) अच्छाई में अच्छाई होना (घ) बहुमूल्य होना
(च) सर्वश्रेष्ठ होना ( )

(३) 'पैर धरती पर न टिकना' मुहावरे का क्या अर्थ है ?

(क) अस्थिर होना (ख) अभिमानी होना
(ग) गर्व से प्रसन्न होना (घ) अत्याचारी होना
(च) दीन हीन होना ( )

(४) प्रधान शिल्पी विशु चिन्तित क्यों था ?

(क) कार्याधिक्य के कारण।
(ख) ज्योतिषी की भविष्यवाणी के कारण।
(ग) शिल्पियों के उत्पात के कारण।
(घ) मन्दिर की छत के पूर्ण न हो पाने के कारण।
(च) महामात्य की क्रूरता के कारण। ( )

(५) 'वह कंकण तो किसी हतभाग्य सूर्यदेव ने किसी सम्मोहित कुंती को दिया था'। विशु के इस कथन में उसका कौन सा भाव प्रकट होता है ?

(क) निराशा (ख) पश्चाताप (ग) क्रोध
(घ) घृणा (च) व्यथा ( )

(६) 'भव्य मंदिरों को बनाने वाले मेरे ये हाथ सारिका और उसकी संतान के लिए एक झोंपड़ी भी न बना सके' विशु का उपर्युक्त कथन उसकी किस भावना को प्रकट करता है ?

(क) पत्नी और पुत्र के प्रति प्रेम भावना।
(ख) कर्त्तव्यपालन न करने पर पश्चाताप की भावना।
(ग) अनिष्ट की आशंका कर भय की भावना।
(घ) पुत्र और पुत्री की असमर्थता पर करुणा की भावना।
(च) अपनी अक्षमता पर व्यंग्य की भावना। ( )

(७) विशु, धर्मपद को प्रधान शिल्पी के अधिकार देने को तैयार हो जाता है क्योंकि—

(क) वह उसका पुत्र था (ख) वह कल्पनाशील था।
(ग) वह बुद्धिमान था (घ) वह तर्क-प्रवीण था।
(च) वह दयावान था ( )

(८) सौम्यश्री ने सूर्य भगवान का कौन सा प्रणय प्रसंग बताया ?

(९) सूर्य और कुंती को विशु और सौम्यश्री ने कायर क्यों बताया ?

(१०) विशु ने कौन सा पाप किया था ? वह उस पाप का क्या प्रायश्चित करना चाहता था ?

(११) विशु के सामने आए हुए धर्मपद की वेशभूषा का वर्णन करिए।

(१२) 'शिल्पी तुम विष्णु हो शंकर नहीं' सौम्यश्री ने ये शब्द विशु से क्यों कहे ?

(१३) विशु ने धर्मपद को आशु शिल्पी क्यों कहा ?

(१४) धर्मपद ने जीवन का पुरुषार्थ किसे बताया ?

(१५) एक उदाहरण देकर सिद्ध करिए कि धर्मपद तर्क-निपुण था ?

(१६) धर्मपद यौवन और विलास की मूर्तियों के निर्माण का विरोध क्यों करता है ?

(१७) चालुक्य शिल्पियों को क्या दण्ड देने की धमकी देता है ? इससे उसका कौन सा चारित्रिक गुण प्रकट होता है ?

(१८) महामात्य धर्मपद को धक्के देकर बाहर क्यों निकलवाता है ?

(१९) यदि आप विशु के स्थान पर होते तो महामात्य को धमकी देने के बाद क्या कहते ?

(२०) विशु धर्मपद के अपमान को अपनी प्रतारणा क्यों मानता है ?

(२१) 'निर्द्वन्द्व' शब्द निः+द्वन्द्व शब्दों के मेल से बना है । इसी प्रकार निः उपसर्ग युक्त चार शब्द इसी अंक से चुनकर लिखिए ।

(२२) नीचे लिखे शब्दों के अर्थ बताइए और उन्हें अपने वाक्यों में प्रयुक्त करिए :—

मर्मस्पर्शी, सन्निहित, निर्निमेष, समीचीन

(२३) निम्नलिखित मुहावरों का अपने वाक्यों में प्रयोग करिए :—

मुँह छिपाना, हथिया लेना, छू मंतर होना, आँखें भर कर देखना, भंडाफोड़ करना, सिर उठाना, घमण्ड चूर करना ।

द्वितीय अंक

(१) विशु नरेश नरसिंहदेव द्वारा दी जाने वाली रत्नमाला स्वीकार क्यों नहीं करता है ?

(क) महामात्य के भय के कारण ।

(ख) पत्नी वियोग की विकलता के कारण ।

(ग) पुत्र को सम्मानित कराने के विचार के कारण ।

(घ) अपने वचन के पालन के कारण ।

(च) शिल्पियों पर हुए अत्याचारों के कारण ( )

(२) धर्मपद महाराज को शिल्पियों की करुणकथा क्यों सुनाता है ?

(क) महामात्य को दण्ड दिलाने के लिए ।

(ख) महाराज को कर्त्तव्य की याद दिलाने के लिए ।

(ग) शिल्पियों की कठिनाइयों का निवारण कराने के लिए ।

(घ) शिल्पियों को पुरस्कार दिलाने के लिए ।

(च) शिल्पियों की वास्तविक दशा बताने के लिए । ( )

(३) महामात्य ने अपने रथ की धुरी टूटने का बहाना क्यों बनाया ?

(क) वे महाराज के सामने शिल्पियों से नहीं मिलना चाहते थे ।

(ख) वे महाराज के जयजयकार को नहीं सुनना चाहते थे ।

(ग) वे महाराज को घेरने के लिए समय चाहते थे ।

(घ) वे अपने षड्यंत्र को छिपाना चाहते थे ।

(च) वे महाराज के साथ मन्दिर में जाना नहीं चाहते थे । ( )

(४) महाराज धर्मपद की किस विशेषता से सबसे अधिक प्रभावित हुए ?

(क) शिल्प-कौशल (ख) तर्क-शक्ति (ग) अदम्य साहस

(घ) चतुराई (च) विनयशीलता ( )

(५) 'कोणार्क का सम्मोहन व्याध की वंशी था और हम थे विवश मृग' नरेश की उपर्युक्त उक्ति से उनकी कौन सी चारित्रिक विशेषता प्रकट होती है ?

(क) कलाप्रियता (ख) विलासिता (ग) परदुःख कातरता

(घ) प्रजावत्सलता (च) लोकप्रियता ( )

(६) 'नरसिंहदेव के व्यक्तित्व में दर्प और आत्मीयता का आकर्षक मिश्रण है' लेखक के इस कथन को सोदाहरण स्पष्ट करिए ।

(७) 'इस विमान और जगमोहन के शिखर हिमाचल की चोटियों की स्पर्द्धा करते जान पड़ते हैं' नरसिंहदेव के इस कथन का क्या कारण था ।

भारती भंडार

लीडर भवन ; ३ , लीडर मार्ग;

इलाहाबाद-२११००१